श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

प्रबन्ध-पञ्चकम्

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास

पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा एवं भागवत गुरु-परम्परा

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका मध्वानुगत्य

भेक-प्रणाली एवं सिद्ध-प्रणाली

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती

सम्पादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

प्रबन्ध-पञ्चकम्

- श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास
- पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा एवं भागवत गुरु-परम्परा
- श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका मध्वानुगत्य
- भेक-प्रणाली एवं सिद्ध-प्रणाली
- श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती

सम्पादक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

❑ **प्रकाशक—**
श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ महाराज 'भागवतभूषण'

❑ **द्वितीय संस्करण—**
श्रीलबलदेव विद्याभूषण प्रभुजीका तिरोभाव
९ जून २००३

❑ **प्राप्तिस्थान—**

१. श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ— तेघरीपाड़ा, पो-नवद्वीप, नदिया (प॰ बं॰)
२. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ— मथुरा (उ॰ प्र॰) ✆ २५०२३३४
३. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ—वृन्दावन दूरभाषः ✆ २४४३२७०
४. श्रीगोपीनाथजी गौड़ीय मठ— राणापत घाट, वृन्दावन ✆ २४४४९६१
५. श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ— राधाकुण्ड रोड़, गोवर्धन ✆ २८१५६६८
६. श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ—बी-३ए, जनकपुरी, नई दिल्ली✆२५५३३५६८
७. श्रीभक्तिवेदान्त गौड़ीय मठ— संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार

प्रबन्ध–सूची

प्रबन्ध	पृष्ठ संख्या

प्रस्तावना

श्रीराधाभाव-कान्ति द्वारा सुवलित शचीनन्दन गौरहरिने इस जगतीतलमें अवतीर्ण होकर अनर्पितचर कृष्णप्रेम प्रदान किया। उन्होंने अपने लीलापरिकर श्रीस्वरूपदामोदर, राय रामानन्द, रूप-रघुनाथ आदि षड्गोस्वामियोंको भी इस जगत्‌में आविर्भूत कराकर सारे विश्वमें इस वैशिष्ट्यपूर्ण कृष्णप्रेमका विस्तार किया है। उन्होंने ठाकुर हरिदास, श्रीवासपण्डित, मुरारिगुप्त, परमानन्द पुरी, ब्रह्मानन्द भारती आदिको प्रोत्साहन देते हुए शुद्धभक्तिके प्रचारकार्यमें नियुक्त कर 'किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केन नय' इस सिद्धान्तको चरितार्थ किया। काषायवस्त्रधारी श्रीस्वरूपदामोदर वाराणसी प्रवासके समय शंकर सम्प्रदायमें द्वारका पीठके अन्तर्गत ब्रह्मचारी होनेपर भी परवर्ती कालमें श्रीमन्महाप्रभुके प्रधान सहायक रहे। श्रीहरिदास ठाकुर यवनकुलमें आविर्भूत हुए तथा किसी सम्प्रदायविशेषमें दीक्षित नहीं हुए, तथापि श्रीचैतन्य महाप्रभुने उन्हें नामाचार्यकी उपाधि दी। उन्होंने अत्यन्त उदार होकर भारतवर्षके विभिन्न प्रदेश, जाति आदिमें आविर्भूत हुए भक्तोंको अंगीकार किया। इस प्रकार कुछ ही दिनोंमें सम्पूर्ण विश्वमें शुद्ध भक्तिका प्रचार हुआ।

किन्तु आजकल राजनीतिकी भाँति धर्ममें भी इर्ष्या, द्वेष, कलह, आनुगत्यहीनता आदिका प्रवेश हो गया है। पहले 'महाजनो येन गतः स पन्था' एवं आनुगत्यमय जीवनका सभी आदरपूर्वक अनुसरण करते थे। समयके फेरसे आजकल कुछ संकीर्ण विचारवाले अर्वाचीन व्यक्ति प्राचीन परम्परागत आनुगत्यके पवित्र सूत्रको छिन्न-भिन्न कर विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रको नष्ट करना चाहते हैं, मनगढंत भजन-प्रणालीका आविष्कार करनेमें और उसे ही प्रामाणिक स्थापित करनेमें वे अपनी गरिमा समझते हैं। सम्प्रदायमें भेद सृष्टिकारी लोग यह नहीं समझ पा रहे हैं कि वे अपने इस कुप्रयाससे कलियुगपावनावतारी श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी मनोऽभीष्ट सेवाके विपरीत गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायकी जड़ खोद रहे हैं।

जो लोग श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वको ग्रहणकर उनके आनुगत्यमें साधन-भजन करते हैं, जो श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीस्वरूपदामोदर, राय रामानन्द एवं षड्गोस्वामियोंके विचारोंको ग्रहणकर साधन-भजन करते हैं एवं सारे विश्वमें इनके विचारोंका प्रचार करते हैं,

'हरे कृष्ण' महामन्त्र एवं इनके द्वारा निर्दिष्ट भजन पद्धतिको ग्रहण करते हैं, वे सभी श्रीचैतन्यमहाप्रभुके परिवारके अन्तर्गत हैं। इनमें श्रीनित्यानन्द, अद्वैत, नरोत्तम, श्यामानन्द आदि बहुत-सी शाखाएँ हो सकती हैं, किन्तु ये सभी गौर परिवारके अन्तर्गत हैं। इनमें कोई गृहस्थ, कोई त्यागी, कोई संन्यासी, कोई गेरुआ वस्त्रधारी, कोई सफेद हो सकता है। किन्तु उपर्युक्त विचारोंको माननेवाले भला श्रीचैतन्यमहाप्रभुके परिवारसे बहिर्भूत कैसे हो सकते हैं? श्रीचैतन्य महाप्रभुकी प्रधान शिक्षा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।

इस प्रकार विशुद्ध श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें परस्पर द्वेष आदिका स्थान ही कहाँ है? आज वैष्णव सम्प्रदायकी तो बात ही क्या, शांकर सम्प्रदायमें भी जैसी एकता एवं आनुगत्य देखे जाते हैं, हमारे गौड़ीय सम्प्रदायमें सर्वत्र इसका अभाव दीख रहा है। इसलिए हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि प्रस्तुत प्रबन्ध-पञ्चकम्‌का गम्भीरतासे अनुशीलनकर विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रकी रक्षा की जाय।

पुस्तकमें पाँच प्रबन्ध हैं, यथा—(१) श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास, (२) पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा और भागवत गुरु-परम्परा, (३) श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका मध्वानुगत्य, (४) भेक-प्रणाली एवं सिद्ध-प्रणाली और (५) श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती। इन प्रबन्धोंमेंसे प्रथम प्रबन्धकी रचना मेरे द्वारा प्रायः १३-१४वर्ष पूर्व हुई थी और श्रीभागवत-पत्रिके वर्ष ४, अंक २से ४ तकमें इसका पूर्व प्रकाशन भी हुआ है। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ प्रबन्ध मेरे द्वारा रचित 'श्रीआचार्य-चरित' नामक ग्रन्थसे संकलित किये गये हैं। पञ्चम प्रबन्ध श्रीमान् हरिप्रिय ब्रह्मचारी द्वारा रचित है, जो अत्यन्त गवेषणापूर्ण है।

प्रबन्धरचनाके क्रममें विरुद्ध मतवादका पोषण करनेवाले अर्वाचीन तथा प्राचीन व्यक्तियोंका नामोल्लेख करना अनिवार्य था। परन्तु मत्सरतापूर्वक किसीकी तुच्छता प्रदर्शित करना हमारा उद्देश्य नहीं रहा है। यदि इन प्रबन्धोंको पढ़कर किसीके हृदयमें ठेस पहुँचती हो, तो हम इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं। अलमिति विस्तरेण।

गोपालभट्ट गोस्वामीकी तिरोभाव-तिथि, श्रावण कृष्णा पञ्चमी, संवत् २०५६
२ अगस्त १९९९

श्रीश्रीहरिगुरुवैष्णवकृपालेशप्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास

आजकल राजनीतिकी भाँति धर्ममें भी ईर्ष्या-द्वेष, कलह, आनुगत्यहीनता आदिका प्रवेश हो गया है। पहले 'महाजनो येन गतः स पन्था' एवं आनुगत्यमय जीवनका सभी आदरपूर्वक अनुसरण करते थे। समयके फेरसे आजकल कुछ संकीर्ण विचारवाले अर्वाचीन व्यक्ति प्राचीन परम्परागत आनुगत्यके पवित्र सूत्रको छिन्न-भिन्न कर विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रको नष्ट करना चाहते हैं तथा मनगढ़न्त भजन प्रणालीका आविष्कार करनेमें और उसीको प्रामाणिक स्थापित करनेमें अपनी गरिमा समझते हैं। सम्प्रदायमें भेद सृष्टिकारी ये लोग यह समझ नही पा रहे हैं कि अपने इस असाधु प्रयाससे कलियुग-पावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभुकी मनोऽभीष्ट सेवाके विपरीत वे श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायकी जड़ खोद रहे हैं।

अभी कुछ दिनों पूर्व श्रीधाम वृन्दावनके श्रीश्यामलाल हकीम द्वारा संपादित महाप्रभु श्रीगौरांग (स्मारिका) प्रकाशित हुई है। उक्त स्मारिकामें वृन्दावनके कुछ परमादरणीय प्रसिद्ध सिद्धान्तविद् वैष्णवाचार्यों, गोस्वामियों एवं विद्वज्जनोंके सुसिद्धान्तपूर्ण सुन्दर लेख भी सन्निहित हैं। परन्तु स्वयं सम्पादकजी एवं एक-दो अर्वाचीन लेखकोंके अनर्थक विद्वेषमूलक, अशास्त्रीय एवं विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रको नष्ट करनेवाले प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें उन्होंने सम्प्रदायिक विचारके विरुद्ध अनर्गल सत्य स्थापितकर अपना पाण्डित्य प्रकाश करनेका ही प्रयास किया है, ताकि लोग उनके आचार्यत्वको स्वीकार कर उनके अनुगामी हों। उनके द्वारा स्थापित विचार नितांत भ्रान्त तथा आधारहीन हानेके कारण सूर्यको ढकनेकी कुचेष्टामात्र है। इन लेखोंको पढ़कर ऐकान्तिक श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको क्षोभ हुआ है।

उक्त स्मारिकामें 'कलियुगमें संन्यास असिद्ध एवं अवैदिक है', 'गैरिक वस्त्र धारण करना गौड़ीय वैष्णवोंके लिए निषिद्ध है', 'श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य आदिका संन्यास अवैदिक है', 'वर्णाश्रममें रहनेवाले व्यक्ति बिना उसका त्याग किये गौड़ीय वैष्णव भजन-प्रणालीमें प्रवेश नहीं कर सकते', श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका श्रीमध्व सम्प्रदायसे

कोई सम्बन्ध नहीं है', 'श्रीजीव गोस्वामी एवं श्रीबलदेव विद्याभूषणके विचारोंमें भेद है', 'प्रकाशानन्द सरस्वती ही श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा लाभ करने पर श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके नामसे प्रसिद्ध हुए' इत्यादि अनर्गल बातें लिखी गयी हैं। उन्हें देखकर परमपूज्य वैष्णवोंने उन भ्रान्त विचारोंका प्रतिवाद करनेके लिए मुझ दीन हीनको प्रेरित किया। उन पूज्यचरण वैष्णवजनके आदेश निर्देशको मस्तक पर धारण कर इस पुनीत कार्यमें प्रवृत हो रहा हूँ। सर्वप्रथम मैं श्री ब्रह्ममाध्व गौड़ीय सम्प्रदायैक संरक्षक चैतन्याम्नायके दशमाधस्तन परमाराध्यतम गुरुदेव आचार्यकेशरी नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके पादपद्मकी धूलिकणा हृदयमें धारणकर 'श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास' प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय संस्कृति या सनातन धर्मकी रीढ़ या मेरुदण्ड है तथा उसकी आत्मा है—भगवत् प्रेम। वर्ण-व्यवस्था एवं भगवत्-प्रेममें शरीर एवं आत्मा जैसा सम्बन्ध है। जिस प्रकार आत्माके प्रधान होने पर भी बद्धावस्थामें शरीर सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है, उसी प्रकार बद्धावस्थामें वर्णाश्रम-धर्म भी सम्पूर्णतः उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु, वर्णाश्रम धर्म ही धर्मकी शेष सीमा है—यह विचार ठीक नहीं है। आत्मधर्म—भगवत्सेवामें प्रतिष्ठित हो जाने पर वर्णाश्रमका लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। उस अवस्थामें ही वर्णाश्रम-धर्मसे सम्पूर्ण निरपेक्ष रहकर ऐकान्तिक भगवद्भजनमें तत्पर हुआ जा सकता है। जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, वहाँ आत्मधर्म—विशुद्ध भगवद्भक्तिका अभाव देखा जाता है। वहाँ अधिक-से-अधिक भक्तिका आभास या विकृत प्रतिफलन ही दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए सभी भारतीय धर्मसम्प्रदायोंमें दैव-वर्णाश्रमका आदर परिलक्षित होता है। भक्ति-साधक अपने साधन-भजनके अनुकूल किसी भी आश्रममें रहकर अथवा अधिकारी होने पर वर्णाश्रमका सम्पूर्णरूपसे परित्यागकर भी भजन कर सकते हैं। विशेषतः अनर्थ-निवृत्त जातभाव पुरुषोंके ऊपर वर्णाश्रम विधिका कोई अंकुश नहीं होता। किन्तु जब तक ऐसी स्थिति नहीं होती, तब तक वर्णाश्रमको बाह्यतः अङ्गीकारकर उसके प्रति आसक्ति एवं उसके अभिमानसे दूर रहकर साधन-भजन करना ही श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको अभीष्ट रहा है। परन्तु श्रीहकीमजीका अद्भुत एवं अर्वाचीन विचार इस सिद्धान्तकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

श्रीयुत हकीमजी द्वारा प्रस्तुत श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारणके विपक्षमें निम्नलिखित प्रधान-प्रधान युक्तियाँ हैं—

(१) 'वेदोंमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीनों आश्रमोंके बाद ही चतुर्थ आश्रम संन्यासका वर्णन आता है। किसी अन्य प्रकारके संन्यासकी बात वैदिक शास्त्रोंमें नहीं है। वेद विरोधी बुद्धदेवने एक नयी संन्यास रीति चलायी, प्रच्छन्न बौद्ध श्रीपाद शंकराचार्यने उसीका अनुकरण किया तथा ८ वर्षकी आयुमें ही तीनों आश्रमोंमें प्रवेश किए बिना ही संन्यास ग्रहण किया। अतएव वह अवैदिक संन्यास था। उसी संन्यासको परवर्ती कई आचार्योंने अपने सम्प्रदायमें चलाया। वास्तवमें वह संन्यास वेदविहित नहीं है।

(२) कलिकालमें संन्यास वर्जित है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्।।

(श्रीब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्मखण्ड १८५/१८०)

अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, संन्यास, मांसद्वारा पितृश्राद्ध तथा देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति—ये पाँचों कलियुगमें विवर्जित हैं।

(३) श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति प्रचलित नहीं है। महाप्रभुके चरणाश्रित श्रीरूप-सनातन आदि गौड़ीय वैष्णवोंमेंसे किसीने संन्यास ग्रहण नहीं किया। जो नाम उनके गृहत्यागसे पूर्व थे, अंत तक उसी नामसे वे परिचित रहे।

(४) श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यका उद्धार करनेके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुने अपनेको उपलक्ष्य बनाकर श्रीसार्वभौमके मुखसे संन्यासकी अनावश्यकता तथा अपकारिता, विशेषतः भक्तिधर्मकी विरोधिताका भी निरूपण कराया है। (चै. भा. ३/३/३०)

(५) श्रीमन्महाप्रभुजीने किसीको संन्यास ग्रहण करनेका उपदेश नही दिया। बल्कि उन्होंने 'एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म। अकिंचन हञा लय कृष्णैक शरण।।' (चै. च. २/२२/५०) में वर्णाश्रम त्यागका ही उपदेश दिया है।

(६) श्रीचैतन्य चरितामृतमें (३/१३/६०) श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए रक्त (लाल) वसन धारण करना निषिद्ध बतलाया है—'रक्तवस्त्र वैष्णवेरे परिते ना युयाय।।'

(७) भक्तिके चौसठ अंगोंमें कहीं भी संन्यासका उल्लेख नहीं है।

(८) श्रीविश्वनाथ चक्रवती ठाकुरने श्रीमद्भागवतके ११/१८/२२ श्लोककी टीकामें 'भक्तस्यानाश्रमित्वञ्च' द्वारा भक्तोंके लिए अनाश्रमित्वका निरूपण किया है।

विशुद्ध साम्प्रदायिक तत्त्वोंसे अनभिज्ञ माननीय लेखक महोदय तो साधारण पारमार्थिक शिष्टाचारकी भी जलाञ्जलि देकर गंभीरवैष्णव अपराधसे तनिक भी भयभीत हुए बिना जड़विद्या निपुण शुष्क तार्किक एवं परमार्थ अनुभूतिरहित लेखकोंके अपसिद्धान्तमूलक विचारोंकी नकल कर व्यर्थ ही गौड़ीय सम्प्रदायमें वाद-वितण्डा एवं भेदकी सृष्टि कर रहे हैं। यही नहीं, वे श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थोंमें उल्लिखित तथ्योंको छिपाकर उसके विपरीत नितान्त असत्य विवरण देने तथा विशुद्ध भक्तिसम्प्रदायोंके आचार्य श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य आदिको भी मुक्तिवादी, अवैदिक संन्यासी कहने तथा श्रीमाधवेन्द्रपुरी आदिको भी अद्वैतवादी संन्यासी घोषित करनेमें कोई संकोच नहीं करते। हम क्रमशः उनके उपर्युक्त अपराधमय एवं शास्त्र विरोधी विचारोंकी निःसारताका प्रदर्शन कर रहे हैं—

(१) श्रीहकीमजीके विचारोंको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने श्रीयुक्त राधागोविन्द नाथ द्वारा संपादित श्रीचैतन्य चरितामृतके परिशिष्टमें लिखित कथनोंको ही वेद समझ लिया है। यदि वे वेद, उपनिषद्, स्मृति एवं पुराण आदि शास्त्रोंको स्वयं पढ़ते, तो वे ऐसी अशास्त्रीय बातें कदापि नहीं लिखते। हो सकता है, संस्कृत भाषाकी अनभिज्ञता उनके स्वयं श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंके अध्ययनमें बाधक हो। यदि ऐसी बात है, तो स्वयं उन शास्त्रोंको पढ़े बिना, वैसा लिखना पूर्णतः अनुचित है। उन्हें समझना चाहिए था कि शास्त्रविरुद्ध कुछ लिखनेसे शास्त्रविद् पण्डितजनोंमें उनकी हँसी उड़ाई जायेगी। संन्यास वैदिक रीति है, वह सार्वकालिक है। संन्यास ग्रहण आदिके विषयमें श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंके कतिपय उद्धरण हम उपस्थित कर रहे हैं—

(क) 'स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।।'

उपर्युक्त मंत्र (क) जावालोपनिषत् (४/१); (ख) याज्ञवल्क्योपनिषद (संख्या १) (ग) परमहंस परिव्राजकोपनिषत् (संख्या २) में दो-एक शब्दोंके

पाठभेदसे मिलता है। मंत्रका अर्थ है—राजर्षि जनकने महर्षि याज्ञवल्क्यके समीप उपस्थित होकर पूछा—"भगवन्! संन्यास ग्रहणके अधिकार एवं विधिका वर्णन करें।" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"पहले गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य व्रतका अवलम्बनकर वेद अध्ययन करना चाहिए। अनन्तर गार्हस्थ्य धर्मका यथायथ पालनकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए। अन्तमें वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि गृहस्थाश्रममें प्रवेशसे पूर्व ब्रह्मचर्यावस्थामें ही संसारके प्रति प्रबल वैराग्य हो जाय, तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए, अथवा वैराग्य प्रबल होनेपर ही गृहस्थ या वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करना उचित है अर्थात् यथार्थ वैराग्य उदित होने पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ, किसी भी आश्रमसे संन्यास ग्रहणकी विधि है। साङ्गवेद अध्ययन समाप्त हुआ है अथवा नहीं, साङ्गवेद समाप्त कर वेदोक्त स्नान हुआ है या नहीं, साग्नि होकर अग्नि निर्वापित की गयी है अथवा नहीं, विवाहित है अथवा विधुर, किसी भी अवस्थामें तीव्र वैराग्य होने पर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है।"

पुनः शुक्लयुजर्वेदीय जावालोपनिषत्में संन्यासका वर्णन इस प्रकार स्पष्टतः मिलता है—

(घ) अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवतीति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेत्।।१५।।

(ङ) एष पन्था ब्रह्मणा हानुवितस्तेनैवैति संन्यासी ब्रह्म विदित्येवमेवैष भगवान्निति वै याज्ञवल्क्यः।।१६।।

(च) त्रिदण्डं कमण्डलु शक्यं जलपवित्रं पात्रं शिखा यज्ञोपवीतञ्च इत्येतत् सर्व भुस्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्।।१८।।

जो लोग परिव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करेंगे, वे गैरिक आदि द्वारा काषायित वस्त्र धारणकर मस्तक मुण्डन कराकर अपरिग्रह (स्त्री-पुत्र आदिका परित्याग कर) करेंगे। अनन्तर बाह्याभ्यन्तर शुद्धि साधनपूर्वक द्रोहका वर्जन करेंगे तथा पवित्र एवं निर्जन स्थानमें ब्रह्मोपासना करेंगे। आतुर व्यक्ति केवल वाणी एवं मनके द्वारा संन्यास ग्रहण करेंगे।।१५।।

अब प्रश्न उठ सकता है कि संन्यासकी रीति यथार्थ है अथवा कल्पित इसके उत्तरमें कहते हैं—संन्यास रीतिका उद्भव लोकपितामह ब्रह्मा द्वारा हुआ है। इसी संन्यास-पथका अवलम्बन करके संन्यासी लोग सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त करते हैं तथा सर्वज्ञ होनेमें समर्थ होते हैं। अतः संन्यास-पथ कल्पित

नहीं, यथार्थ है। अत्रिऋषिने याज्ञवल्क्यका ऐसा उपदेश सुनकर 'भगवन् याज्ञवल्क्य!' इस सम्बोधनके द्वारा उपदेश ग्रहण किया।।१६।।

इसके पश्चात् परमहंसावस्था उपस्थित होनेपर त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, वसन, जलपात्र, कन्था, कौपीन, उत्तरीय आदि संन्यास-लिंग भी छूट जाता है।।१८।।

अब स्मृतियोंमें देखिए—

(छ)

विरक्तः सर्वकामेषु परिव्राज्यं समाश्रयेत्।
एकाकी विचरेन्नित्यं त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहम्।।
एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डी वापि वा भवेत्।
त्रिदण्डं कुण्डिका चैव भिक्षाधारं तथैव च।
सूत्रं तथैव गृह्णीयान्नित्यमेव बहूदक।
ईषत्कृत काषायस्य लिङ्गमाश्रित्य तिष्ठत।।

(विष्णुस्मृति ४/२, १०, १२, १८)

सब प्रकारकी सांसारिक कामनाओंसे विरक्त व्यक्तिको संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास ग्रहणकर उसे अकेला भ्रमण करना चाहिए तथा बिना माँगे ही जो कुछ मिल जाय उसी भिक्षासे जीवन निर्वाह करना चाहिए। उसे एकदण्ड या त्रिदण्ड धारण करना चाहिए। बहूदक त्रिदण्डी संन्यासीको भिक्षा-पात्र, कमण्डलु, यज्ञोपवीत एवं हल्के रंगका गैरिक वस्त्र धारणकर हृदयमें सर्वदा भगवत्-चिन्तन करना चाहिए।

(ज) हारीतस्मृतिमें भी कहा गया है—

त्रिदण्डं वैष्णवं सम्यक् संततं समपर्वकम्।
वेष्टितं कृष्णगोवालरज्जुमच्चतुरंगुलम्।।६।।
शौचार्थमासनार्थं च मुनिभिः समुदाहृतम्।।
कौपीनाच्छादनं वासः कन्था शीतनिवारिणीम्।।७।।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्।।
एतानि तस्य लिङ्गानि यतेः प्रोक्तानि सर्वदा।।८।।

(हारीतस्मृति ६/६-८)

चार अंगुलका कपड़ा और काली गायके बालोंकी रस्सीसे लिपटा हुआ तथा सम ग्रन्थिवाले बाँसका त्रिदण्ड धारण करना चाहिए। शौच और आसनके विचारके लिए मुनियों द्वारा दी हुई कौपीन, शीतको दूर करनेवाली गुदड़ी

और खड़ाऊँको ग्रहण करना चाहिए। अन्य वस्तुका संग्रह नहीं करना चाहिए। ये संन्यासीके सभी कालके (चारो युगोंके) चिह्न कहे गये हैं।

(झ) महानिर्वाण तन्त्रमें कलियुगमें भी चारों वर्णों और उससे बहिर्भूत साधारण लोगोंका भी संन्यासमें अधिकार बतलाया गया है–

अवधूताश्रमो देवि कलौ संन्यास उच्यते।
विधिना येन कर्त्तव्यस्तं सर्वं शृणु साम्प्रतम्।।
ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विरते सर्व कर्मणि।
अध्यात्मविद्या निपुणः संन्यासाश्रममाश्रयेत्।।
ब्राह्म क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः सामान्य एव च।
कुलावधूत संस्कारे पञ्चानामधिकारिता।।
विप्रानमितरेषाञ्च वर्णानां प्रबले कलौ।
उभयत्राश्रमे देवि! सर्वेषामधिकारिता।।

(महानिर्वाणतन्त्र ८वाँ उल्लास)

हे देवि! कलियुगमें अवधूत आश्रमको संन्यास कहा जाता है। उसके लिए जो विधि है, उसे श्रवण करो। सब प्रकारके कर्मोंसे विरक्ति होनेपर तथा ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेपर अध्यात्म विद्या—भगवत्तत्त्वमें निपुण व्यक्तिको संन्यास ग्रहण करना चाहिए। इस संन्यास-संस्कारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वर्णबहिर्भूत साधारणजन, इन पाँचोंका अधिकार है। यहाँ तक कि कलिके प्रबल होनेपर भी विप्र तथा दूसरे वर्णोंके लोगोंका भी इसमें अधिकार है।

(ञ) मनुस्मृतिमें—

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते।।

(मनुस्मृति १२/१०)

अर्थात् वाक्, काय और मनोदण्डको धारण करनेवालेको त्रिदण्डी संन्यासी कहा जाता है।

(ट) अमल पुराण श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण चारों आश्रमोंकी उत्पत्तिके विषयमें उद्धवसे कह रहे हैं—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्य हृदो मम।
वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः।।

(श्रीमद्भा. ११/१७/१४)

अर्थात् मेरी जाँघसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम और वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम उत्पन्न हुए हैं, किन्तु संन्यास मेरे मस्तक पर स्थित है।

और भी—

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा–मध्यासितां पूर्व तमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।

(श्रीमद्भा. ११/२३/५७)

अर्थात् अवन्ती भिक्षुकने कहा—बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परात्मनिष्ठारूप संन्यास आश्रमका आश्रय लिया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहणकर भगवान श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा दुरन्तपार अज्ञान-सागरको अनायास ही पार कर लूँगा।

(ठ) स्कन्द पुराणमें—

शिखी यज्ञोपवीती स्यात् त्रिदण्डी सकमण्डलुः।
स पवित्रश्च काषायी गायत्रीञ्च जपेत् सदा।।

त्रिदण्डी संन्यासी शिखा रखेंगे, यज्ञोपवीत धारण करेंगे तथा कमण्डलु ग्रहण करेंगे। वे काषायवस्त्र (गैरिक वसन) पहनेंगे तथा पवित्र रहकर सर्वदा गायत्री मंत्रका जप करेंगे।

(ड) पद्मपुराणमें—

एकवासा द्विवासा वा शिखी यज्ञोपवीतवान्।
कमण्डलुकरो विद्वांस्त्रिदण्डो याति तत्परम्।।

(स्वर्गखण्ड आदि ३१ अध्याय)

विद्वान् त्रिदण्डी यति एक बहिर्वास एवं उत्तरीय वसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कमण्डलु धारणकर भगवद्भावमें तत्पर रहें।

(त) श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी द्वारा श्रीहरिभक्तिविलासके परिशिष्टस्वरूप रचित 'संस्कार-दीपिका' में त्रिदण्ड संन्यास-संस्कार, डोर-कौपीन एवं काषाय वस्त्र धारणकी विधि सुस्पष्टतः लिपिबद्ध है। इसकी एक प्राचीन पोथी (लिपि) जयपुरके राजकीय पुस्कालयमें संगृहीत है। श्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानमें इस ग्रन्थका उल्लेख है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने भी इसका प्रकाशन कराया था।

प्राचीन कालमें वैदिक संन्यासियोंमें अधिकांशतः त्रिदण्ड संन्यास ग्रहणकी प्रथा प्रचलित थी। कोई-कोई एकदण्ड भी ग्रहण करते थे। श्रुति, स्मृति, पुराण एवं आगमोंमें सर्वत्र त्रिदण्ड एवं कहीं कहीं एकदण्ड संन्यासकी

विधिका उल्लेख देखा जाता है। संन्यासकी बहूदक अवस्थामें वाग्दण्ड, मनोदण्ड एवं कायदण्डके साथ प्रदेशमात्र जीवदण्ड सम्मिलित होकर त्रिदण्डमें चार दण्ड एकत्र संश्लिष्ट रहते हैं। श्रीरामानुज एवं श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायमें त्रिदण्ड संन्यासकी प्रथा प्रचलित है। श्रीशंकराचार्य-सम्प्रदायमें प्रचलित एकदण्ड संन्यास भी वैदिक-संन्यास है। वेदविरोधी बौद्धोंमें संन्यास ग्रहणकी रीति नहीं है। उनमें दण्ड आदि संस्कारविहीन भिक्षु होते हैं। अतः हकीमजीका यह मन्तव्य कि 'श्रीपादशंकराचार्यने बौद्धोंके संन्यासका अनुकरण किया है' सम्पूर्णतः असत्य एवं कपोलकल्पित है। और, इससे भी अधिक असत्य यह मन्तव्य है कि आचार्य श्रीरामानुज एवं श्रीविष्णु स्वामी सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति श्रीशंकराचार्य सम्प्रदायकी संन्यास रीतिकी देखा-देखी प्रचलित हुई।

हमने पहले यह दिखा दिया है कि वैदिक शास्त्रोंके अनुसार तीव्र वैराग्यका उदय होने पर किसी भी वर्ण या आश्रमसे किसी भी आयुमें संन्यास ग्रहणकी रीति सर्वथा उचित है। अतः आचार्य शंकर द्वारा ८ वर्षकी आयुमें ब्रह्मचर्याश्रमसे संन्यास ग्रहण करना सर्वथा वेदविहित है।

वैष्णवाचार्य श्रीमध्वने विशुद्ध सिद्धान्तों (पंच भेद, मुक्तिमें भी जीव और ईश्वरमें भेद, जीव हरिके अनुचर हैं आदि) तथा अपनी वैष्णव उपासना प्रणालीको यथावत् रखते हुए जो एकदण्ड संन्यास ग्रहण किया—वह शांकर संन्यासका अनुकरण नहीं है। क्योंकि आचार्य शंकर एकदण्ड संन्यास प्रथाके मूल प्रवर्तक नहीं हैं। आचार्य शंकरसे बहुत पूर्व वैदिक कालमें एकदण्ड या त्रिदण्ड संन्यास प्रचलित था। याज्ञवल्क्योपनिषद्के अनुसार श्रीब्रह्माजी संन्यासके मूल प्रवर्तक हैं तथा पूर्व कालमें संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीत आदि महामहर्षि संन्यास ग्रहणके अनन्तर परमहंसावस्थामें उपनीत हुए थे। परवर्ती कालमें श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायमें ७०० त्रिदण्डि संन्यासियोंका उल्लेख पाया जाता है। ये सभी शुद्ध वैष्णव और भगवत्सेवापरायण थे।

श्रीवल्लभ-दिग्विजय (संस्कृत) ग्रन्थके अनुसार श्रीवल्लभाचार्य वृद्धावस्थामें श्रीमाधवेन्द्र यतिसे काशीके हनुमान घाटपर त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण कर 'पूर्णानन्द यति' के नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीवल्लभाचार्य शुद्ध वात्सल्य रसके उपासक थे—यह प्रसिद्ध तथ्य है। श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार ये श्रीगौरशक्ति गदाधर पण्डितसे जगन्नाथपुरीमें युगलकिशोर-उपासनाका मन्त्र ग्रहणकर वात्सल्य रससे किशोर गोपालकी उपासनामें प्रवृत्त हुए थे।

वल्लभभट्ट हय वात्सल्य-उपासन। बालगोपाल मन्त्रे तेहों करेन सेवन।।
पण्डितेर सने तार मन फिरि गेल। किशोर गोपाल उपासनाय मन दिल।।
(चै. च. अ. ७/१४४-१४५)

अतः केवल मुक्तिवादी ही संन्यास ग्रहण करते हैं तथा दूसरे सभी आचार्योंने शंकर-सम्प्रदायके संन्यासका अनुकरण किया है—हकीमजीका यह आक्षेप भी सर्वथा निराधार एवं असत्य है।

हमने श्रीविष्णुस्वामी एवं श्रीवल्लभाचार्यके संन्यासके सम्बन्धमें दिखलाया है कि वे भक्तिपरायण विशुद्ध वैष्णव-संन्यासी थे। अब श्रीरामानुज एवं श्रीमध्वाचार्यके सम्बन्धमें विचार कर रहे हैं। श्रीहकीमजीने पहले तो इन दोनोंका संन्यास अवैदिक माना है, पुनः बाध्य होकर उनका संन्यास वैदिक तो स्वीकार किया है, किन्तु उन्हें मुक्तिवादी मानकर उनके संन्यासको वर्णाश्रमविहित माना है। निष्काम वर्णाश्रम धर्मके पालनसे मुक्ति प्राप्त होती है। अतः मुक्तिके साधनमें संन्यासको उचित माना है। किन्तु गौड़ीय सम्प्रदायमें संन्यासके प्रति आपत्ति करते हुए उनका कहना है कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका लक्ष्य व्रजमें प्रेम-सेवा प्राप्त करना है, अतः गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें संन्यास रीतिका अवकाश नहीं है।

श्रीहकीमजीका यह कथन भी अज्ञातप्रसूत एवं अपराधमूलक है। श्रीरामानुज एवं श्रीमध्वाचार्यके प्रामाणिक ग्रन्थोंसे सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसी कपोलकल्पित बातें कह सकता है। श्रीसम्प्रदायके श्रीभाष्य, वेदार्थसंग्रह, प्रपन्नामृत, गद्यत्रय आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंके अनुसार जीव स्वरूपतः भगवत्किङ्कर हैं। उनके सिद्धान्तानुसार कदापि ब्रह्मके साथ जीवकी ऐकात्मता सम्पन्न नहीं होती। वैकुण्ठमें भगवानका कैङ्कर्य ही परमा मुक्ति है। श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार भी जीव श्रीहरिके नित्य अनुचर हैं तथा विष्णुके श्रीचरणकमलोंकी सेवा प्राप्ति ही मुक्ति है[१]। अतएव इन दोनों सम्प्रदायोंकी भगवत्सेवा-तात्पर्यमयी मुक्ति श्रीशंकराचार्य द्वारा कथित निर्विशेष मुक्ति अर्थात् जीव-ब्रह्म-ऐक्यसे सर्वथा भिन्न है।

वैसे श्रीमद्भागवतमें 'कैवल्यैक प्रयोजनम्' श्लोकको देखकर क्या हकीमजी

---

१ (क) श्रीमध्वमते हरिः परतमः सतां जगत्तत्त्वतो भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः। — (श्रीजयतीर्थ एवं श्रीत्रिविक्रमाचार्य रचित ग्रन्थोंसे)
(ख) 'मोक्षं विष्ण्वङ्घ्रिलाभं' —(प्रमेयरत्नावली)

श्रीमद्भागवतको भी मुक्तिवादी ग्रन्थ मानकर उसे श्रीगौड़ीय विचार-धाराका विरोधी मोनेंगे। "मुक्ति" एवं "कैवल्य" शब्दोंको देखकर भड़कना उचित नहीं, बल्कि इन शब्दोंका गूढ़ तात्पर्य समझना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी आदि टीकाकारोंने शास्त्रीय प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंसे 'केवल' शब्दका अर्थ 'विशुद्ध प्रेम' किया है। श्रील जीव गोस्वामीने प्रीतिसंन्दर्भमें 'मुक्ति' का यथार्थ तात्पर्य 'प्रेम-सेवा' निरूपित किया है। अतएव उक्त दोनों वैष्णव सम्प्रदायोंसे श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका तात्त्विक विरोध नहीं है। सभी वैष्णव-सम्प्रदायोंमें ये विचार मान्य हैं कि विष्णु-तत्त्व उपास्य हैं, ब्रह्म और जीवमें सेव्य और सेवकका सम्बन्ध है; भक्ति साधन है तथा भगवत्सेवा (प्रेम) प्रयोजन है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं परमव्योमपति श्रीमन्नारायण तत्त्वतः अभिन्न हैं; केवलमात्र उपास्य एवं उपासकके वैशिष्ट्यसे ही सम्प्रदायका भेद है। अतः श्रीरामानुज, श्रीमध्व एवं श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायोंमें संन्यासका प्रचलन जिस प्रकार ग्रहणीय है, उसी प्रकार श्रीमध्वानुगत श्रीगौड़ीय सम्प्रदायमें भी संन्यासकी रीति शास्त्रानुकूल एवं ग्रहणीय है। श्रीमाधवेन्द्रपुरी, श्रीविष्णुपुरी, श्रीईश्वरपुरी, श्रीरंगपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी आदि संन्यासीवृन्दका लक्ष्य कृष्णप्रेम ही था, इसे श्रीहकीमजी या कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इन सबने पहले भक्तिमार्गमें प्रवेश किया था और बादमें ऐकान्तिक भक्तिके अनुकूल निष्किञ्चन संन्यास वेश ग्रहण किया था। अतः 'महाजनो येन गतः स पन्था' के अनुसार तथा श्रीगौड़ीय वैष्णव- सम्प्रदायके मूल इन महापुरुषोंके आनुगत्यमें इस सम्प्रदायमें भी संन्यासकी रीति सर्वथा उचित है।

(२) उनका दूसरा आक्षेप है—कलिकालमें सभी सम्प्रदायके लिए संन्यास वर्जित है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

(ब्रह्मवैवर्त्त, कृष्णजन्मखण्ड १८५/१८०)

अर्थात् अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, संन्यास, मांस द्वारा पितृश्राद्ध तथा देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति—ये पाँच कलियुगमें विवर्जित हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि वेद, उपनिषद्, पुराण एवं स्मृतियोंके उपदेश सार्वकालिक हैं। जहाँ उपर्युक्त सभी प्रामाणिक शास्त्र एक स्वरसे सभी युगोंके लिए (अधिकारीके लिए) संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारणका विधान

दे रहे हैं, वहाँ एकमात्र ब्रह्मवैवर्त्तके केवल एक श्लोकके बलपर कलियुगमें संन्यासका निषेध किसी विशेष परिस्थिति या किसी विशेष प्रकारके संन्यासके लिए ही उचित माना जा सकता है; सभी क्षेत्रोंमें नहीं। क्योंकि उस ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें ही अन्यत्र संन्यास एवं गैरिक वसन धारणकी विधि भी दी गई है—

दण्डं कमण्डलुं रक्तवस्त्रं मात्रञ्च धारयेत्।
नित्यं प्रवासी नैकत्र स संन्यासीति कीर्त्तितः।।

(ब्र. वै. २/३६/९)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें ब्रह्मवैवर्त्तके 'अश्वमेधं' श्लोकका प्रमाण श्रीचैतन्य महाप्रभुने चाँदकाजीको गोवधके विरोधमें प्रस्तुत किया था, संन्यासके प्रसंगमें नहीं। पद्मपुराणमें तीन प्रकारके संन्यासका उल्लेख है—ज्ञान-संन्यास, वेद (विद्वत्)-संन्यास एवं कर्म-संन्यास।

ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनोऽपरे।
कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्त्तिताः।।

(पद्मपुराण आदि ३१ अध्याय)

इन तीनोंमेंसे कलियुगमें केवल कर्मसंन्यास ही निषिद्ध है। इन्द्रियोंके शिथिल होनेपर रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि सुखोंको भोगनेमें असमर्थ हो जानेके कारण आत्मज्ञान या भगवद्भक्तिके उद्देश्यसे रहित होकर जो लोग संन्यास ग्रहण करते हैं, वे कर्मसंन्यासी हैं। भगवद्भक्त कर्मी नहीं होते, अतः उनके लिए कर्मसंन्यासका प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान-संन्यासका लक्ष्य सायुज्य मुक्ति है। 'आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं ततो पतन्त्यधोऽनादृत-युष्मदङ्घ्रयः'—श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके अनुसार ज्ञान-संन्यासमें पतनकी आंशका होनेके कारण भगवद्भक्तजन इसे भी ग्रहण नहीं करते। भगवद्भक्तजन तो केवल वेदसंन्यास—विद्वत्-संन्यास ही ग्रहण करते हैं। उनका यह विद्वत् संन्यास ग्रहण भी केवल परात्मनिष्ठाका निदर्शनमात्र है। श्रीचैतन्य महाप्रभु संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् भावविभोर होकर श्रीमद्भागवतके "एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः। अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।" श्लोकका पुनः पुनः पाठ करते हुए कहने लगे—

परात्मनिष्ठा - मात्र वेष धारण। मुकुन्द सेवाय हय संसार तारण।।
सेइ वेष कैल, एबे वृन्दावने गिया। कृष्णनिषेवन करि निभृते बसिया।।

(चै. च. म. ३/८-९)

श्रीमद्भागवतमें भी नरोत्तम संन्यास (विद्वत् संन्यास) की विधि दी गयी है—

य स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः।।

(श्रीमद्भा. १/१३/२७)

जो आत्मज्ञ व्यक्ति अपनी समझसे हो अथवा दूसरोंके उपदेशसे हो, इस संसारको दुःखरूप समझकर इससे विरक्त हो जाता है और हृदयमें श्रीहरिको धारण करके संन्यास ग्रहण करता है, वह नरोत्तम है।

अतः पूर्वापर सामञ्जस्य रखते हुए विचार करनेपर इस सिद्धान्तपर उपनीत हुआ जाता है कि कलियुगमें भी दुःखपूर्ण संसारके प्रति वैराग्य उदित होनेपर सांसारिक आसक्तियोंका सर्वथा परित्यागकर भगवान श्रीमुकुन्दकी ऐकान्तिकी सेवाके लिए (कर्मसंन्यासके अतिरिक्त) विद्वत्-संन्यास या नरोत्तम-संन्यास ग्रहण करना शास्त्र-सम्मत है। यदि किसी भक्तके लिए गृहस्थाश्रममें रहकर भगवद्भजन करना निन्दनीय नहीं है, तब उससे श्रेष्ठ संन्यासाश्रममें रहकर भजन करना कैसे निन्दनीय हो सकता है? जहाँ भी हो, हरिभजन होना चाहिए। जिसके लिए जो आश्रम हरिभजनके लिए अनूकुल हो, उसीमें रहकर वर्णाश्रमके प्रति आसक्ति या अभिमानको छोड़कर ऐकान्तिक रूपसे हरिभजन करना चाहिए और जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर देना चाहिए। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।

श्रीमन्महाप्रभुके इस कथनसे संन्यासीका भी गौड़ीय भजन रीतिमें अधिकार है एवं इसकी पुष्टि भी होती है कि कलिकालमें संन्यास लिया जा सकता है। कृष्णतत्त्वविद् होनेपर संन्यासी भी आचार्य एवं गुरुके रूपमें मान्य हैं, निन्दनीय या वर्जित नहीं हैं।

(३) (क) अनन्तर उनका कहना है—"श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति नहीं है।"

इस विषयमें सम्प्रदाय-तत्त्वविदोंका कहना है कि स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही कलिकालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र आदिने किसी सम्प्रदायका प्रवर्त्तन नहीं

किया है, यह उनका कार्य भी नहीं है, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभुकी गणना एक सम्प्रदाय प्रवर्त्तकके रूपमें करना भूल एवं शास्त्र-विरुद्ध है। भगवान् यह कार्य अपने सेवकों—श्रीब्रह्माजी, श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुद्र एवं श्रीसनत्कुमारों द्वारा सम्पन्न कराते हैं। यदि श्रीमन्महाप्रभुको सम्प्रदायका प्रवर्त्तक मान लिया जाय तो उनके शास्त्रसिद्ध भगवदावतारी होनेपर प्रश्न चिह्न लग जाता है। क्योंकि किसी भी भगवदावतार द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्तनका प्रमाण सुलभ नहीं है। अतः स्वयं भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने न तो किसी नये सम्प्रदायका गठन किया और न ही उन्होंने कोई नया सम्प्रदाय प्रचलित किया। बल्कि नरलीलानुरोधसे वैष्णव-गुरु-परम्पराकी रक्षा करते हुए श्रीब्रह्म-मध्व सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहणकी लीलाका आचरण किया। ऐसा करते हुए भी उन्होंने साध्य-साधनके सम्बन्धमें उत्कर्षतामूलक परममाधुर्यमय उपास्य-तत्त्वकी परम माधुर्यमयी असमोद्ध्र्व-उपासना पद्धति प्रदानकर उक्त सम्प्रदायको सर्वोत्कृष्ट बना दिया।[१]

यहाँ यह सत्योद्घाटन करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रीयुत सुन्दरानन्द विद्याविनोद, श्रीराधागोविन्दनाथ, स्वयं श्रीहकीमजी जो अब पुराना साम्प्रदायिक चोला बदलकर श्रीचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय-प्रवर्तक सिद्ध करना चाहते हैं, उनका अपना कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है। वे लोग आजकलके राजनीतिज्ञोंकी भाँति सिद्धान्तोंको बदलनेमें भी सिद्धहस्त थे या हैं। आज जिस सिद्धान्तको ग्रहण करते हैं, कल उसके विपरीत कहते हैं। बार-बार विचार बदलनेवालोंके विचार कदापि निर्भरयोग्य नहीं होते। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोदने गुरुत्याग एवं सिद्धान्त परिवर्तनका कीर्तिमान स्थापित किया है। श्रीराधागोविन्दनाथने अपने ही सम्पादित श्रीचैतन्य चरितामृतके तृतीय संस्करण तकमें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको श्रीमध्व सम्प्रदायके अनुगत लिखा है। पुनः चतुर्थ संस्करणमें उक्त सिद्धान्तसे हटकर उसे स्वतन्त्र सम्प्रदाय सिद्ध करनेके लिए निराधार कपोलकल्पित कुयुक्तियोंको ग्रहण किया है। माननीय श्रीराधागोविन्दनाथ किसी भी वैष्णव-सम्प्रदायमें दीक्षित शुद्ध वैष्णव नहीं थे। अतः शुद्ध गुरुपरम्परारहित व्यक्ति गूढ़-साम्प्रदायिक

---

१ श्रीचैतन्यचरितामृत (श्रीहकीमजी द्वारा सम्पादित प्रथम संस्करण) मध्यलीला, नवम परिच्छेदके २४९ पयारकी चैतन्यचरणचुम्बिनी टीकामें देखें। हकीमजीने स्वयं ऐसा उल्लेख किया है।

रहस्यपूर्ण सिद्धान्तोंको कैसे जान सकता है? श्रीहकीमजी भी इन शिक्षा-गुरुओंका अनुकरण कर स्व-सम्पादित श्रीचैतन्यचरितामृतके प्रथम संस्करणकी टीकामें श्रीमन्महाप्रभुके सम्प्रदाय-सम्बन्ध, संन्यास वेश आदिके विषयमें एक प्रकारका सिद्धान्त निरूपित किया है। फिर द्वितीय संस्करणमें उसके विपरीत सिद्धान्तका निरूपण किया है।

जहाँ भजन-साधनका अभाव होता है, तत्त्वानुभूति नहीं होती, जहाँ श्रीगुरु एवं गुरु-परम्पराके प्रति निष्ठाका अभाव होता है—वहाँ स्थिर सिद्धान्त पर आरूढ़ नहीं रहा जा सकता है। ऐसे लोगोंके विचारोंको ग्रहण करनेसे केवल अनर्थ एवं वैष्णवापराध ही लाभ होगा, परमार्थ नहीं।

साम्प्रदायिक ऐतिह्यकी आलोचना करनेसे यह स्पष्ट रूपसे देखा जा सकता है कि विष्णुशक्ति या विष्णुदासोंके द्वारा ही अब तक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तनका कार्य साधित होता आया है। यद्यपि 'धर्मन्तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं' (श्रीमद्भा. ६/३/१९) एवं 'धर्मोजगन्नाथात् साक्षान्नारायणात्' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/५४) आदि शास्त्रवचनों द्वारा श्रीभगवान्‌को ही सनातन धर्मका मूल प्रणेता कहा गया है, तथापि 'अकर्त्ता चैव कर्त्ता च कार्यं कारणमेव च' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/६०) आदि शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह प्रमाणित होता है कि सर्वकारणकारण श्रीभगवान् धर्मका मूल होनेपर भी सम्प्रदाय प्रवर्त्तनके कार्यमें उनका साक्षात् कर्त्तृत्व नहीं है। अपने शक्त्याविष्ट पुरुषों द्वारा ही वे इस कार्यका सम्पादन कराते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो ब्रह्म-सम्प्रदाय, श्री-सम्प्रदाय, चतुःसन-सम्प्रदाय और रुद्र-सम्प्रदाय आदि नाम न होकर श्रीवासुदेव-सम्प्रदाय, नारायण-सम्प्रदाय, सङ्कर्षण-सम्प्रदाय आदि नाम ही प्रसिद्ध होते। विष्णु-तत्त्व सत् या सात्त्वत सम्प्रदायोंके उपास्य अधिदेव हैं और उनमें भी विष्णुपरतत्त्व श्रीकृष्ण या श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक गुरुमात्र माननेसे उनको भी ब्रह्मा, लक्ष्मीजी, चतुःसन, श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदिके समान या इनका प्रतिद्वन्द्वी मानना अवश्यम्भावी हो जाएगा। ऐसा मानना सिद्धान्तके विपरीत होगा। इसीलिए श्रीरूप-सनातन आदि गोस्वामियोंके ग्रन्थोंमें एवं श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आदि परवर्ती गौड़ीय वैष्णवाचार्योंने कहीं भी श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको 'चैतन्य-सम्प्रदाय' नहीं लिखा है। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय प्रवर्त्तक कदापि नहीं कहा जा सकता।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीने संन्यास ग्रहण करनेके पूर्व ही मध्व सम्प्रदायके श्रीलक्ष्मीपति तीर्थसे दीक्षा ग्रहण की थी। बादमें तीव्र वैराग्य एवं व्रज-भावसे भजन करनेकी अत्युत्कंठा जाग्रत होनेपर उन्होंने किसी 'पुरी' उपाधियुक्त संन्यासीसे संन्यास ग्रहण किया। श्रीनित्यानन्द प्रभु (किसीके मतानुसार श्रीलक्ष्मीपतिके शिष्य हैं), श्रीईश्वरपुरी, श्रीरंगपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्द पुरी, श्रीविष्णुपुरी, श्रीकेशवपुरी, श्रीकृष्णानन्दपुरी, श्रीसुखानन्दपुरी—ये सभी श्रीमाधवेन्द्रपुरीके संन्यासी शिष्य हैं। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि, मथुरावाले सानोड़िया विप्र, मैथिल रघुपति उपाध्याय आदि अनेक उन्हींके गृहस्थ शिष्य थे। श्रीकेशव भारती (श्रीमन्महाप्रभुके संन्यास-वेश गुरु) ने भी गृहस्थाश्रममें रहते हुए श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। बादमें ऐकान्तिक रूपसे कृष्ण-भजनके लिए किसी 'भारती' उपाधिधारी संन्यासीसे निष्किञ्चन संन्यास-वेश ग्रहण किया था। प्रेमविलासके २३वें विलासमें केशव भारतीको श्रीमाधवेन्द्रपुरीका शिष्य बतलाया गया है।

श्रीस्वरूपदामोदर भी काषाय वस्त्रधारी संन्यासी ही थे। ये सभी प्रेमी भक्तजन प्रारम्भसे ही परम भागवत थे। बादमें ऐकान्तिक कृष्णभजनकी सिद्धिके लिए ही इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। इनमेंसे किसीने भी अद्वैतवादी शांकर संन्यास ग्रहणके पश्चात् भक्तिमार्गमें प्रवेश नहीं किया था। श्रीहकीमजी या श्रीराधागोविन्दनाथका यह कथन कि ये लोग अद्वैतवादी संन्यास ग्रहण करनेके बाद भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हुए थे और इनलोगोंने पूर्वाचार्योंके प्रति सम्मान प्रदर्शन करते हुए पूर्व वेश और पूर्वनामका परित्याग नहीं किया—यथार्थ तथ्य ओर ऐतिह्यके विपरीत है। क्या भक्तिमार्गमें प्रविष्ट होनेके पूर्व ही अद्वैतवादी माधवेन्द्रपुरी (?) से श्रीईश्वरपुरी प्रमुख व्यक्तियोंने अद्वैत-संन्यास लिया था और क्या वे अद्वैतवादी थे? क्या हकीमजी या उनके जैसे विचारधारावाले महानुभवोंने इसका कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किया है या कर सकेंगे? क्या श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्दप्रभु या श्रीस्वरूपदामोदर पहले अद्वैतवादी संन्यासी थे, बादमें भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हुए थे? कदापि नहीं। इसे कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता।

श्रीमन्महाप्रभुके पश्चात् उनके लीलापरिकर छः गोस्वामी, श्रीलोकनाथ-भूगर्भ, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर आदि स्वभावतः निष्किञ्चन परमहंस थे। उनके लिए संन्यास-वेश या गैरिक वस्त्रकी अपेक्षा नहीं थी। द्वितीयतः श्रीमन्महाप्रभुने संन्यास-वेश एवं गैरिक वसन

धारणकी लीला की थी। अतः उनके पदाश्रित सेवकाभिमान रखनेवाले इन महात्माओंने अपनेको दीन-हीन अयोग्य समझकर तथा श्रीमन्महाप्रभुके वेशके प्रति आदर-सम्मान प्रकट करनेके लिए संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारण नहीं किया। दूसरी ओर बहुतसे रागानुगीय अकिञ्चन वैष्णवोंने उन श्रीगौरपरिकरोंके निष्किञ्चन परमहंस वेशके प्रति श्रद्धा प्रदर्शन हेतु तथा उनके आनुगत्यमें समग्र विश्वमें श्रीगौरवाणीका प्रचार करनेके लिए परमहंस वेशको मस्तकपर धारणकर वर्णाश्रमके अन्तर्गत उससे निम्न संन्यास वेश एवं गैरिक वस्त्र भी धारण किया है। ये दोनों रीतियाँ अपने-अपने स्थानपर सर्वांग सुन्दर एवं सिद्धान्त-संगत हैं। आज इन्हीं द्वितीय प्रकारके निष्किंचन संन्यास-वेशधारी महापुरुषों द्वारा समग्र विश्वमें शुद्ध हरिभक्तिका प्रचार-प्रसार हुआ है, हो रहा है और होगा। नीचे गौड़ीय सम्प्रदायके संन्यासी महापुरुषोंका नामोल्लेख किया जा रहा है—

(१) श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके गुरु एवं पितृव्य (चाचा) थे। ये श्रीमन्महाप्रभुके कृपापात्र, धुरन्धर विद्वान्, स्वाभाविक कवि और भजनपरायण थे।

(२) श्रीविश्वरूपप्रभु—श्रीमन्महाप्रभुके ज्येष्ठ भ्राता। संन्यासके पश्चात् श्रीशंकरारण्य नाम हुआ था। इनका कभी भी अद्वैतवादसे कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा। प्रारम्भिक जीवनसे ही भक्तिमान् थे।

(३) श्रीराधिकानाथ गोस्वामी—ये श्रीअद्वैतवंशज, श्रीगौड़ीय वैष्णवोंमें धुरन्धर विद्वान् एवं तत्त्वविद् वैष्णवाचार्य थे। वृन्दावनमें निवास करते थे। इन्होंने त्रिदण्ड संन्यास एवं गैरिक वसन धारण किया था। इनके द्वारा लिखित 'यतिदर्पण' नामक ग्रन्थमें संन्यासका अधिकारी, आवश्यकता एवं विधि आदिके विषयमें विभिन्न शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत हैं।

(४) श्रीगौरगोविन्दानन्द—उपर्युक्त श्रीपरमानन्द पुरी महाराजके शिष्य तत्कालीन अद्वितीय पण्डित, ऐकान्तिक भजन परायण और श्रीगौरगत प्राण थे। इनका संन्यासका नाम परिव्राजकाचार्य श्रीगौर-गोविन्दानन्द (पुरी) भागवत स्वामी हुआ था। इनके द्वारा लिखित संस्कृत श्लोकोंमें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके श्रीमध्वानुगत होनेका व्यवस्था-पत्र विशेष प्रसिद्ध है।

(५) श्रीगौरगोपाल गोस्वामी—श्रीधाम नवद्वीपवासी, अद्वैतवंशीय विख्यात पण्डित थे। इन्होंने भी त्रिदण्डसंन्यास धारण किया था। संन्यासका नाम "श्रीगुरु-गौरवान्द महाराज" हुआ था।

(६) श्रीसार्वभौम मधुसूदन गोस्वामी—श्रीधाम वृन्दावनके प्रसिद्ध श्रीराधारमणके गोस्वामियोंमें प्रख्यात विद्वद्वरेण्य सार्वभौम मधुसूदन गोस्वामीने गैरिक वस्त्र एवं संन्यास ग्रहण किया था।

(७) श्रीबालकृष्ण गोस्वामी—वृन्दावनके श्रीराधारमणके गोस्वामी। इन्होंने श्रीकृष्णचैतन्य गोस्वामीके निकट त्रिदण्ड-वेश धारण किया था।

(८) श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी—श्रीधाम वृन्दावनस्थ श्रीराधारमणके विद्वद्वरेण्य श्रीमद्भागवतके सुप्रसिद्ध व्याख्याकार, श्रीगौरगतप्राण श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामीने श्रीमध्वाचार्य सम्प्रदायके मूल मठ उडुपीके कुलपति श्रीविद्यामान्य तीर्थके निकट अपनी गौड़ीय परम्पराके तिलक, मंत्र, भजन प्रणाली एवं श्रीमन्महाप्रभुकी इष्टताको यथावत् रखते हुए संन्यास-वेश ग्रहण किया है। संन्यासका नाम "श्रीचैतन्य कृष्णाश्रय तीर्थ महाराज" हुआ है। ये अभी भी भारतमें सर्वत्र ही श्रीगौरवाणीका प्रचार कर रहे हैं।

(९) जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती—समग्र विश्वमें श्रीमन्महाप्रभुके मनोऽभीष्ट हरिनाम और शुद्ध भक्तिके प्रचारक, देश-विदेशोंमें श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता श्रीविमलाप्रसाद सरस्वती ठाकुर संन्यास ग्रहण कर परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती "प्रभुपाद" के नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने दीनतावश अपना परिचय 'श्रीवार्षभानवीदयितदास' के रूपमें दिया है।

उक्त श्रील सरस्वती ठाकुरके शिष्य-प्रशिष्य बड़े-बड़े प्रतिभासम्पन्न, विद्वान्, ऐकान्तिक भजन-परायण, श्रीगुरु-गौराङ्ग-निष्ठा-परायण सैकड़ों संन्यासियोंने भारत एवं विश्वके सभी छोटे-बड़े देशोंमें सर्वत्र ही श्रीगौरवाणीका प्रचार-प्रसार किया है और आज भी कर रहे हैं। इनमें परमाराध्य परिव्राजकाचार्य श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज, श्रीमद्भक्तिसारंग गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिविलास तीर्थ महाराज, श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज (पाश्चात्य देशोंमें श्रीगौर वाणीके प्रसिद्ध प्रचारक) परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर गोस्वामी महाराज आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हीं महापुरुषोंकी सेवा-प्रचेष्टासे संस्कृत, हिन्दी, बँगला, उड़िया, आसामी, गुजराती तमिल, तेलगु आदि भारतीय भाषाओं एवं अँग्रेजी फ्रेञ्च, स्पैनिस, चीनी, रसियन, जापानी आदि भाषाओं तथा दक्षिण अमेरिका, अफ्रिका आदि महादेशोंकी विभिन्न भाषाओं—विश्वकी लगभग ४०—५०

प्रधान-प्रधान भाषाओंमें श्रीमद्भागवत, गीता, श्रीचैतन्यचरितामृत, आदि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रहीं है। सर्वत्र श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द, श्रीराधाकृष्ण, श्रीसीता-राम एवं श्रीजगन्नाथ देव आदिके विशाल-विशाल श्रीमंदिर बने हैं और बन रहे हैं। लाखों श्रद्धालु नर-नारी करताल और मृदंगके साथ जाति-पाति और राष्ट्रगत भेदभाव छोड़कर उच्चस्वरसे "हरिबोल हरिबोल" कर संकीर्तनमें मत्त हो रहे हैं।

क्या हकीमजी और उनके शिक्षागुरुवर्ग इन प्रखर प्रतिभावान्, विद्वद्वरेण्य परम निष्किञ्चन गौर-गतप्राण त्रिदण्डियतियों एवं काषाय वस्त्रधारी ब्रह्मचारियोंको स्वेच्छाचारी एवं गौड़ीय वैष्णवाचार्य गोस्वामीवृन्दके आनुगत्यसे बाहर बतलाकर महावैष्णव अपराध नहीं कर रहे हैं। फिर स्व-सम्पादित 'स्मारिका' में इन्हीं महावैष्णवाचार्योंके नाम एवं चित्र देकर उन्हें श्रीब्रह्म-माध्व गौड़ीय वैष्णवाचार्य या श्रीमन्माध्व-गौड़ेश्वराचार्य क्यों लिखा है?

इस प्रकार श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें श्रीचैतन्य महाप्रभुसे पूर्व एवं पश्चात् भी संन्यास एवं गैरिक वस्त्रका प्रचलन सिद्ध है।

(३) (ख) जहाँ तक पूर्वनाम एवं वेश अंत तक पूर्ववत् रखनेकी बात है, हकीमजीका यह विचार भी भ्रमपूर्ण है। श्रीनित्यानन्द प्रभुका घरेलू नाम 'कुबेर' था। 'नित्यानन्द' नाम संन्यासका है। श्रीअद्वैताचार्यका पूर्वनाम कमलाक्ष या कमलाकान्त था। श्रीसनातन गोस्वामीका घरेलू नाम 'अमर', गौड़ेश्वर हुसैनशाह द्वारा प्रदत्तनाम 'साकरमल्लिक' तथा श्रीमन्महाप्रभु द्वारा दिया गया नाम है—'श्रीसनातन'। श्रीरूप गोस्वामीका घरेलू नाम 'सन्तोष', हुसेनशाह द्वारा प्रदत्त नाम 'दबीरखास' एवं श्रीमन्महाप्रभु द्वारा दिया हुआ नाम है—'श्रीरूप'। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके वेशाश्रयका नाम 'श्रीहरिवल्लभ दास' था।

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीद्वारा लिखित 'संस्कार-दीपिका' में त्रिदण्ड वेशाश्रयकी विधिमें भगवद्दास्यसूचक नाम ग्रहणकी विधि देखी जाती है। परवर्ती कालमें प्रचलित वेशाश्रय भी एक प्रकारसे संन्यास ही है, क्योंकि निष्किञ्चन परमहंसोंके लिए किसी विधिकी अपेक्षा नहीं होती। उनपर विधिका अंकुश सम्भव नहीं। उक्त वेशाश्रयके समय भगवद्दास्यसूचक नाम ग्रहणकी रीति प्रचलित है। जैसे—श्रीकृष्णदास बाबाजी महाराज (पूर्व नाम वटकृष्ण), श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज (पूर्व नाम वंशीदास) आदि सहस्रों गौड़ीय वैष्णवोंके पूर्वनाम परिवर्तनके प्रमाण विद्यमान हैं। अतएव हकीमजीका यह मन्तव्य भी बालकोलाहालमात्र है।

(३) (ग) श्रीमन्महाप्रभुके श्रीचरणाश्रितजनोंमें केवल वर्णाश्रम निरपेक्ष निष्किञ्चन परमहंस गोस्वामीवृन्द ही नहीं थे। उनमें श्रीनकुल एवं श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी; श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवास पण्डित, श्रीशिवानन्दसेन, सार्वभौम भट्टाचार्य आदि गृहस्थजन; श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीरंगपुरी, ब्रह्मानन्द भारती आदि संन्यासीवृन्द तथा श्रीरूप-सनातन प्रमुख निष्किञ्चन महाभागवत—सभी श्रेणीके महापुरुष थे। परन्तु इनमेंसे किसीमें वर्णाश्रम या वेशके प्रति आसक्ति या अभिमानका लेश भी नहीं था। उनका वर्णाश्रम या वेशाश्रय केवलमात्र भजनकी अनुकूलता मात्रके लिए था। इसलिए संन्यास-वेश ग्रहणकारी गौड़ीय वैष्णव रागानुगा भजनके अधिकारी नहीं हैं—यह विचार गौड़ीय सिद्धान्तके विपरीत है।

(४) श्रीचैतन्यभागवतमें वर्णित श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य और श्रीमन्महाप्रभुके बीच संन्यासके विषयमें वार्तालाप श्रीसार्वभौमजीके उद्धारसे पूर्वका है। श्रीहकीमजीने उक्त घटनाको जानबूझकर पाठकोंसे छिपाया है। श्रीचैतन्य भागवतमें इस घटनाका उल्लेख इस प्रकार है—

ना जानिया सार्वभौम ईश्वरेर मर्म।
कहिते लागिला ये जीवेर यत धर्म।।
परम सुबुद्धि तुमी हइया आपने।
तबे तुमि संन्यास करिला कि कारणे।।
बुझ देखि विचारिया कि आछे संन्यासे।
प्रथमेई बद्ध हय अहंकार-पाशे।।
दण्ड धरि महाज्ञान हय आपनारे।
काहारेओ बल जोड़ हस्त नाहि करे।।
यार पदधूलि लैते वेदेर विहित।
हेन जन नमस्करे, तबु नहे भीत।।

(चै. भा. अ. ३/१८-२२)

भक्ति एवं भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीराधाभावद्युति-सुवलित स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनरूप श्रीमन्महाप्रभुको एक साधारण अल्पवयस्क शांकर संन्यासी समझकर अज्ञ जीवके प्रति उपदेश देने जैसा आचरण करने लगे—"तुमपर श्रीकृष्णकी महती कृपा है। तुम परम बुद्धिमान भी लगते हो। फिर भी तुमने संन्यास क्यों ग्रहण किया? तनिक विचार तो करो, संन्यासमें क्या रखा है? दण्ड धारण करते ही जीव अपनेको महाज्ञानी मानकर अहंकारके पाशमें आबद्ध हो जाता है। किसीसे भी हाथ जोड़कर

नम्रतापूर्वक बातचीत नहीं करता। वेदोंमें जिनकी पदधूलि ग्रहण करनेका विधान है, ऐसे गुरुजनोंको अपने प्रति नमस्कार करते हुए देखकर भी अपराधसे भीत नहीं होता।"

श्रीमद्भागवतमें जीवमात्रको प्रणाम करनेका उपदेश मिलता है—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ।

* * * * * * * * * * * *

प्रविष्टो जीवकलया तत्रैव भगवानिति।

(श्रीमद्भा. ११/२९/१६, ३/२९/३४)

अर्थात् भगवान् भी जीवोंमें अन्तर्यामी परमात्मारूपसे विराजमान हैं—ऐसा जानकर कुत्ते, चाण्डाल, गाय एवं गदहे पर्यन्त सभी जीवोंको साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। किन्तु, संन्यासी तो शिखा-सूत्र त्यागकर तथा भगवद्भजन छोड़कर अपनेको नारायण कहलवाता है तथा पूज्य व्यक्तियोंका भी प्रणाम ग्रहण करता है।

श्रीमन्महाप्रभुने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—"आप मुझे संन्यासी न समझें। मैंने ऐकान्तिक रूपसे कृष्णभजनके लिए शिखा-सूत्रका त्याग एवं गृहत्याग किया है। आप मुझे कृष्णविरही समझकर ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे मेरे प्यारे कृष्ण मिल जायँ।"

श्रीमन्महाप्रभुजीने अन्यत्र भी ऐसा कहा है—

प्रभु कहे, साधु एई भिक्षुर वचन।
मुकुन्द-सेवन व्रत कैल निर्द्धारण।।
परात्मनिष्ठा-मात्र वेष धारण।
मुकुन्द-सेवाय हय संसार-तारण।।
सेई वेष कैल, एबे वृन्दावन गिया।
कृष्णनिषेवन करि निभृते बसिया।।

(चै. च. म. ३/६९)

अर्थात् त्रिदण्डि भिक्षुकके वचन सत्य एवं कल्याणजनक हैं, क्योंकि उनमें भगवान् श्रीमुकुन्दके श्रीचरणकमलोंकी सेवारूप व्रत निर्द्धारित हुआ है। इसमें जो संन्यास-वेश है, उसका तात्पर्य जड़ात्मबुद्धिको त्यागकर सर्वकारणकारण परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णमें निष्ठा प्राप्तिसे है। ऐसी निष्ठा उत्पन्न होनेपर भगवान् श्रीमुकुन्दकी सेवा प्राप्त होती है तथा अनायास ही संसारसे उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। संन्यास तो ले लिया है, अब मैं वृन्दावन

जाकर संसारके कोलाहालसे दूर निर्जन स्थानमें रहकर श्रीकृष्णचरणकमलोंका सेवन करूँगा।

श्रीमन्महाप्रभुजीने संन्यास ग्रहणकर वृन्दावनके लिए प्रस्थान किया, किन्तु पहुँचे श्रीजगन्नाथपुरी। वहाँ श्रीसार्वभौमसे मिलन हुआ। सार्वभौमजीने उनको उक्त संन्यासके विषयमें उपदेश किया। पीछे 'आत्मारामश्च' श्लोककी व्याख्या सुनकर एवं षड्भुजरूपका दर्शनकर उनका भ्रम दूर हुआ। फिर तो वे श्रीमन्महाप्रभुके सभी गृहस्थ एवं संन्यासी परिकरोंका आदर करने लगे।

श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीचैतन्यभागवत, श्रीचैतन्यचन्द्रामृत आदि सभी ग्रन्थोंमें संन्यासके प्रति आदरका भाव देखा जाता है—

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यका कथन है—

सहजेई पूज्य तुमि आरे त' संन्यास।
अतएव हऊँ तोमार आमि निजदास।।

(चै. च. म. ६/५६)

अर्थात् एक तो तुम सहज ही पूज्य हो, उसपर संन्यासी हो। अतएव मैं तुम्हारा दास हो गया।

जहाँ तक प्रणाम ग्रहण एवं अपनेको नारायण समझनेकी बात है, वह वैष्णव-संन्यासके सर्वथा विपरीत है। याज्ञवल्क्योपनिषद्में सभी संन्यासियोंके लिए चाण्डालसे लेकर गो-गर्दभ, पशु-पक्षी तक जीवमात्रको साष्टांग प्रणामकी विधि दी गयी है—

ईश्वरो जीव कलया प्रविष्टो भगवानिति।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ।।

(मन्त्र-४)

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा लिखित संस्कार-दीपिकामें संन्यास-ग्रहणका मन्त्र 'गोपीभाव' की प्राप्तिका है तथा उसमें शिखा-सूत्रका त्याग नहीं होता और श्रीगौर परिकरोंके आनुगत्यमें व्रजरीतिके अनुसार श्रीराधा-गोविन्दके ऐकान्तिक भजनके लिए ही केवल बाहरसे संन्यास-वेश ग्रहण किया जाता है। अतएव वह कदापि रागानुगा भजनका विरोधी नहीं है।

एक बात और यह है कि यदि वेशाश्रय करनेवाले सभी बाबाजीको निन्दा-अहंकारशून्य परम भागवत मान लिया जाय तो फिर गैरिक वस्त्र एवं संन्यास ग्रहणकर ऐकान्तिकरूपसे गौड़ीय गोस्वामियोंके आनुगत्यमें

श्रीगुरु-गौरांग-राधा-गोविन्दके भजनकारीके प्रति उनकी घृणा एवं ईर्ष्या कदापि सम्भव नहीं है। यदि वेशाश्रय करनेवाला परमहंसावस्थाका अभिमानी कोई व्यक्ति दूसरे ऐकान्तिक भजन करनेवालोंको घृणाकी दृष्टिसे देखे एवं अपंक्तेय समझें तो क्या वे परमहंस या रागानुगीय वैष्णव माने जाएँगे? वेशाश्रय करनेमात्रसे अनर्थ दूर नहीं होते। अनधिकारी साधकके लिए तो वर्णाश्रममें रहते हुए तत् तत् अभिमान एवं आसक्तिको छोड़कर भजन करना ही श्रेयस्कर है। अधिकार उपस्थित होनेपर स्वयं वर्णाश्रमकी विधियोंसे निरपेक्ष होकर ऐकान्तिक रागानुगीय भजनमें प्रवेश होगा। अन्यथा अनधिकारी व्यक्ति द्वारा निरपेक्ष परमहंस वैष्णवोंका अनुकरण करनेपर विपरीत फल अनिवार्य है।

(५) श्रीमन्महाप्रभुने किसीको संन्यास ग्रहण करेनका उपदेश नहीं दिया है, बल्कि वर्णाश्रम त्यागका ही उपदेश दिया है—

एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म।
अकिंचन हञा लय कृष्णैकशरण।।

(चै. च. म. २२/९०)

यहाँपर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसनातन गोस्वामी जैसे परम विरक्त निष्किंचन अधिकारीको चरम प्रयोजन—कृष्ण-प्रेम प्राप्तिके लिए ऐसे अभिधेय तत्त्वका उपदेश कर रहे हैं और उस स्थितिके लिए हरिदासश्रेष्ठ उद्धवजीका उदाहरण प्रस्तुत किया है—

विज्ञजनेर हय यदि कृष्णगुण-ज्ञान।
अन्य त्यजि भजे, ताते उद्धव-प्रमाण।।

(चै. च. म. २२/९४)

अतः वैसा उपदेश कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा लोलुप, अनर्थग्रस्त अनधिकारी अर्थात् अज्ञ व्यक्तियोंके लिए नहीं है। श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीला आदि तत्त्वविद् विज्ञोंके लिए ही ऐसा उपदेश समझना चाहिए। 'यदि' शब्दके प्रयोगसे ऐसा स्पष्ट होता है। अतएव शब्दको पकड़कर बैठ जाना सुविज्ञ जनोंका ध्येय नहीं होता है, अपितु कब और किससे किन परिस्थितियोंमें कोई विधि-निषेध कहा गया है—यह प्रथम विचारणीय होता है। यथा निम्न प्रसंगोंमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने विभिन्न प्रकारके उपदेश दिए हैं—

(क) बालक रघुनाथ दास (गोस्वामी) को—

स्थिर हइञा घरे जाओ ना हओ बातूल।
क्रमे-क्रमे पाय लोक भव-सिन्धु कूल।।

मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाञा।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हइञा।।
अन्तरे निष्ठा कर बाह्ये लोक व्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार।।

(चै. च. म. १६/२३७-२३९)

(ख) श्रीरघुनाथ भट्टको—

वृद्ध माता-पितार जाई करह सेवन।
वैष्णव-पास भागवत कर अध्ययन।।

(चै. च. अ. १३/११३)

(ग) श्रीशिवानन्द सेनको—

गृहस्थ हयेन इहों चाहिए संचय।
संचय ना कैले कुटुम्ब भरण ना हय।।

(चै. च. म. १५/९५)

(घ) संन्यास-ग्रहणके पश्चात् शान्तिपुरमें नदियावासियोंके प्रति—

घरे जाइया कर सदा कृष्ण संकीर्तन।
कृष्ण नाम, कृष्ण कथा, कृष्ण आराधन।।
घरे गिया कर सबे कृष्ण संकीर्तन।
पुनरपि आमा संगे हइबे मिलन।।

(चै. च. अ. ३/१९०, २०७)

(ङ) श्रीराय रामानन्दसे—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।

(चै. च. म. ८/१२७)

(च) श्रीचैतन्य महाप्रभु तो स्वयं यह सङ्कल्प लेकर ही अवतीर्ण हुए हैं कि मैं स्वयं भक्तभाव अंगीकार एवं आचरण कर विश्वमें सर्वत्र ही विशुद्ध भक्तिका प्रचार करूँगा—

आपनि करिमु भक्तिभाव अंगीकारे।
आपनि आचरि भक्ति सिखाइमु सबारे।।
आपने ना कैले धर्म शिखान न जाय।
एइ त सिद्धान्त गीता-भागवते गाय।।

(चै. च. आ. ३/२०-२१)

और

एई मत भक्तभाव करि अङ्गीकार।
आपनि आचरि भक्ति करिल प्रचार।।

(चै. च. आ. ४/४१)

श्रीमन्महाप्रभुके इन विभिन्न उपदेशोंका विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्मचारी, गृही, संन्यासी, भेकधारी और वर्णाश्रम-निरपेक्ष परमहंस—ये सभी कृष्ण-भजनके अधिकारी हैं। कृष्ण-भजनमें तत्पर रहनेपर ये सभी सम्मान्य हैं। यदि गृहस्थ वैष्णव सम्मानका पात्र है, तो फिर सर्वत्यागी ऐकान्तिक भजनपरायण संन्यासी वैष्णव निन्दाका पात्र, उपेक्षणीय एवं उच्छृंखल कैसे माना जा सकता है?

कृष्णप्रेम पिपासु साधकोंको प्रेम-साधनके लिए गृहस्थाश्रम, संन्यास या वेशाश्रय जो भी अनुकूल जान पड़े, उसीमें रहकर भजन करना चाहिए। जो प्रतिकूल हो, उसका त्याग करना चाहिए। श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीअद्वैताचार्य प्रभुसे अपने संन्यास ग्रहणका कारण बताते हुए कहते हैं—

बिना सर्व त्यागं भवति भजनं न ह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो-
रितिवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्।।

(चैतन्यचन्द्रोदय नाटक ५/२२)

—"सर्वस्व त्याग किए बिना प्राणनाथका भजन सम्भव नहीं है। इसीलिए मैंने सर्वस्व त्याग किया है। मैं अद्वैतवादी मुक्तिकामी निर्विशेष ज्ञानियोंकी भाँति त्यागी नहीं हूँ। विशेषतः अतिशय चंचल अपने मनरूपी पशुको दण्ड देनेके लिए ही मैंने संन्यासका दण्ड धारण किया है।" अतः किसीको ऐसे संन्यासमें आपत्तिकी बात ही क्या दीखती है?

वे कहते हैं—'श्रीमहाप्रभुकी संन्यास लीला उनकी स्वरूपानुबन्धिनी लीला मात्र है।' किन्तु उनकी संन्यासलीला जीव शिक्षा एवं जीव कल्याणके लिए भी तो है—*आपनी आचरि धर्म सिखामु सबारे।।*

'नाहं विप्रो' श्लोकमें श्रीमन्महाप्रभुजीने जीवके शुद्ध स्वरूपकी शिक्षा दी है। उसका तात्पर्य यह है कि भक्ति-साधक अपनेको किसी भी स्थूल-सूक्ष्म जड़ीय उपाधियोंमें आबद्ध न रखकर शुद्ध चिन्मय कृष्ण-दास समझे। क्या केवल संन्यासमें ही संन्यासीका अभिमान अनिवार्य है, गृहस्थ और वेशाश्रय करनेवालोंमें अहंकारकी सम्भावना नहीं है? हकीमजीका विचार

ऐसा ही प्रतीत होता है। वर्णाश्रममें रहते हुए भी वर्णाश्रमके प्रति अभिमान एवं आसक्ति छोड़नेके लिए ही संन्यासकी व्यवस्था है। अतः बाह्य अभिमानको छोड़कर परात्मनिष्ठा-सम्पन्न होकर कृष्ण-भजन करना ही काम्य है।

(६) श्रीसनातन गोस्वामीने गौड़ीय वैष्णवोंके लिए गैरिक वस्त्र धारण करना निषिद्ध बतलाया है—

'रक्तवस्त्र वैष्णवे परिते ना जुयाय।'

(चै. च. अ. १३/६१)

यहाँ पाठकोंके समक्ष उक्त प्रसंगको उपस्थित किया जा रहा है, जिससे उक्त विषय स्पष्ट हो जाय। श्रीगौर-परिकर श्रीजगदानन्द पण्डितजी गोकुल दर्शनके लिए श्रीसनातन गोस्वामीकी भजन कुटीमें ठहरे थे। श्रीसनातन गोस्वामी मधुकरी भिक्षासे लौटे। उनके सिरपर गैरिक वस्त्र बँधा था। पण्डितजी उस वस्त्रको देखकर पहले तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस वस्त्रको श्रीमन्महाप्रभुका प्रसादी वस्त्र समझा। परन्तु बाद जब उन्हें यह पता चला कि वह वस्त्र अद्वैतवादी संन्यासीका है, तब बड़े क्रोधित हुए। इस पर भी श्रीसनातन गोस्वामीने बड़ी नम्रतासे कहा—मैंने केवल आपकी इसी गौरनिष्ठाको देखनेकी अभिलाषासे ही इस वस्त्रको धारण किया था। आपकी गौर निष्ठा धन्य है। अब मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं इसे किसी औरको दे दूँगा—

''रक्त वस्त्र वैष्णवे परिते ना जुयाय।''

यहाँ पण्डितजीके क्रोधका कारण गैरिक वस्त्र नहीं था। अद्वैतवादी संन्यासीके वस्त्रके धारणसे था। क्योंकि—

'रातुल वस्त्र देखि, पण्डित प्रेमाविष्ट हइला।''

यदि रातुल (गैरिक) वस्त्र मात्रसे ही उनकी चिढ़ होती तो वे श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीपरमानन्द पुरी प्रभृतिके गैरिक वस्त्रको देख कर भी क्रोध करते। परन्तु अन्यत्र कहीं भी ऐसे प्रसंगका उल्लेख नहीं मिलता। श्रीसनातन गोस्वामीने पण्डितजीको शान्त करने तथा महाप्रभुके वेशके प्रति मर्यादा प्रदर्शन हेतु ही रक्त वस्त्र (रक्त या लाल वस्त्र वैष्णवोंके लिए निषिद्ध है) धारण किया था। यदि श्रीसनातन गोस्वामीको गैरिक वस्त्र मात्रका निषेध अभीप्सित होता तो वे बृहद्भागवतामृतकी स्वरचित टीकामें भी संन्यासका निषेध करते। उन्होंने बृहद्भागवतामृत २/७/१४ श्लोककी टीकामें श्रीमद्भागवत ३/५/३९ श्लोककी अवतारणाकर उसकी व्याख्या करते हुए संन्यासके विषयमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका दृष्टिकोण उपस्थित किया है—

'अयमर्थः—यतयोऽपि यस्य पदारविन्दस्य मूलं तलं केत आश्रयो येषां तथाभूता एव सन्तः महदपि संसार दुःखमञ्जसा अनायासेनैव बहिरूत्क्षिपन्तीति। यद्वा, ये श्रीभगच्चरणारविन्दाश्रयास्ते यतय एव नोच्यन्ते, किन्तु परमभक्ता एव, सर्वपरित्यागेन तच्चरणारविन्दाश्रयणात्, केवलं गृहादिपरित्यागनिष्ठार्थमेव संन्यास-ग्रहणात्, वेशमात्रेण यतिसादृश्यं तेषाम्। ये तु आत्मानमेव श्रीभगवन्तं श्रीनारायणं मन्वाना आत्मव्यतिरिक्तदृष्टं श्रुतं सर्वमेव मन्मयाकल्पितं मय्येवाध्यस्तमित्यादि मायावादानुसारेणाद्वैतबोधमात्रपरास्त एवाद्वैतपरवेदान्त- सिद्धान्तमते यतयोऽभिधीयते। त एव हि सच्छब्दवाचेभ्यो भक्तेभ्यो भिन्ना अक्षीणपापा विषयरागवासितान्तःकरणा अज्ञा अपि पण्डितमानिनो दैत्यप्रकृतयः। तान् प्रत्येवेमानि वचनानि श्रूयन्ते।'

अर्थात् देवताओंने कहा—"प्रभो! हम आपके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। ये अपने शरणमें आए हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिए छत्रके समान हैं तथा इनका आश्रय लेने पर यतिगण अनन्त संसार-दुःखको सुगमतासे ही दूर फेंक देते हैं। संसारी जीव उनका आश्रय नहीं करके ज्ञान लाभके अभावमें त्रिताप भोग करते हैं। भगवन्! हमलोग भी इन श्रीचरणकमलोंकी छायाका आश्रय कर ज्ञान प्राप्त करेंगे। तात्पर्य यह कि यतिजन श्रीभगवानके श्रीचरणकमलोंका आश्रय लेकर अनन्त संसार दुःखको अनायास ही दूर फेंक देते हैं, किन्तु जिन्होंने भगवानके श्रीचरणकमलोंका आश्रय किया है, वे कदापि यति नहीं कहलाते। वे यतिवेश बाह्यतः धारण करेनपर भी भक्त कहलाते हैं। तब यहाँ उन भक्तोंके लिए जो 'यति' शब्दका प्रयोग है, उसका कारण श्रीभगवच्चरणारविन्दोंमें आश्रय हेतु सर्वस्व परित्याग ही है। अर्थात् गृहादि सर्व परित्यागके द्वारा परात्मनिष्ठाकी दृढ़ता सम्पादनार्थ ही संन्यास ग्रहण किया करते हैं। केवल बाहरी वेशमात्र द्वारा यतियोंका सादृश्य धारण किया करते हैं, किन्तु यथार्थतः भक्त हैं। किन्तु जो लोग आत्माको (अपनेको) श्रीभगवान् नारायण मानकर आत्म-व्यतिरिक्त देखे-सुने जानेवाले सभी पदार्थोंको मेरी मायाद्वारा कल्पित मुझमें ही अध्यस्त इत्यादि मायावादी विचारके अनुसार अद्वैत-बोधमात्रमें तत्पर रहते हैं, केवल वे लोग ही अद्वैतपरक वेदान्त-सिद्धान्तमतानुयायी 'यति' कहलाते हैं। और वे ही उक्त श्लोकमें कथित 'सत्' शब्दके वाच्यसे भिन्न एवं अक्षीणपाप विषयरागसे युक्त होकर भी अपनेको पण्डितका अभिमान करते हैं, इसीलिए दैत्यस्वभाव-सम्पन्न ऐसे यतियोंके प्रति ही ये वचन सुने जाते हैं।

श्रील सनातन गोस्वामीके इस सिद्धान्तका श्रीचैतन्यचरितामृत एवं श्रीचैतन्यचन्द्रोयमें भी प्रतिपादन किया गया है और यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका

हृदगत भाव भी है। अतः श्रीसनातन गोस्वामी कषाय वस्त्रके विरोधी नहीं, समर्थक ही हैं। श्रीहकीमजी गैरिक वस्त्र और रक्तवस्त्रमें अन्तर नहीं कर पाये हैं। गैरिक वस्त्र कृष्ण अनुरागका प्रतीक है जबकि रक्त वस्त्र हिंसाका द्योतक है—यह वैष्णवोंको धारण नहीं करना चाहिए।

(७) साधन भक्तिके चौसठ अंगोंमें कहीं भी संन्यासका उल्लेख नहीं है।

यह युक्ति भी अत्यन्त हास्यास्पद है। साधन भक्तिके अंगोंमें तो गार्हस्थ्य, वेशाश्रय या सफेद वस्त्र-धारणका भी उल्लेख नहीं है। तो क्या हकीमजी इनको भी गौड़ीय वैष्णवोंके लिए निषिद्ध मानेंगे? और तो क्या, छापखाना, किताबकी दुकान आदिका भी साधन भक्तिके ६४ अंगोंमें उल्लेख नहीं रहनेसे श्रीहकीमजी स्वयं भी उच्छृंखल एवं गौड़ीय वैष्णवोंके आनुगत्यसे बाहर हो पड़ेंगे।। बुद्धिके पहाड़ो! गार्हस्थ्य, संन्यास या वेशाश्रय भक्तिके अंग नहीं हैं ये भक्तिसाधनके बाह्य वेश हैं, जो अनुकूल होनेपर ग्रहण किए जा सकते हैं, प्रतिकूल होनेपर छोड़े जा सकते हैं। अतः संन्यासका चौसठ प्रकारके अंगोंमें उल्लेख नहीं रहनेपर भी उसे निषिद्ध नहीं माना जा सकता है। 'रागानुगा' का भी तो वैधीभक्ति-अंगोंमें उल्लेख नहीं, फिर उसे निषिद्ध माना जाएगा? यह केवल अप्रासंगिक एवं शुष्क तर्कमात्र है।

(८) श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवत (११ वें स्कन्धके १८ वें अध्यायके प्रारम्भमें अध्याय-सार कथनमें) 'भक्तस्यानाश्रयमित्वञ्च' द्वारा भक्तोंके लिए किसी भी आश्रमकी अनावश्यकता बतलायी है।

११/१८/२८ श्लोककी टीकामें जो विस्तारपूर्वक बतलाया है, वह पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।

(श्रीमद्भा. ११/१८/२८)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका—

परिपक्वज्ञानिनो निष्कामस्वभक्तस्य च वर्णाश्रमनियममाभावमाह,—ज्ञाननिष्ठः परिपक्व–ज्ञानवान् अनपेक्षकः प्रतिष्ठापर्यन्तापेक्षारहितः। अत्र सर्वथा नैरपेक्षमजातप्रेम्नो भक्तस्य न सम्मवेदत उत्पन्नप्रेमैव भक्तः सलिङ्गानाश्रमांस्त्यजेत् अनुत्पन्नप्रेमा तु निर्लिङ्गाश्रमधर्मास्त्यजेदित्यर्थो लभ्यते; स्वधर्मत्यागस्तु "तावत् कर्माणि कुर्वीतेति" वाक्यात् भक्तानामारम्भत एवावगम्यते। तयोः शुद्धान्तःकरणत्वादेव पापे प्रवृत्त्यभावात् दुराचारत्वं नाशङ्क्यम्; तेनाविधिगोचरः।'

अर्थात् संसारसे सम्पूर्ण निरपेक्ष भक्त आश्रमोचित चिह्नोंके साथ आश्रमधर्मका परित्यागकर वेद-विधिरहित परमहंसरूपमें विचरण करेंगे। प्रेमी भक्त ही सम्पूर्ण निरपेक्ष होते हैं। जब तक प्रेमका उदय नहीं होता, तब तक सम्पूर्णरूपसे निरपेक्ष नहीं हुआ जा सकता है। इसलिए साधक भक्त प्रेम प्रकट नहीं होनेतक सलिंग आश्रम धर्म परित्याग न कर, निर्लिंग आश्रम धर्मका परित्याग कर अर्थात् आश्रमोचित चिह्न त्रिदण्ड, गैरिक वस्त्र आदिके अतिरिक्त निर्लिंग आश्रमका परित्याग कर हरिभजन करेंगे। क्योंकि निरपेक्ष भक्तके लिए वर्णाश्रमोचित कर्म अनावश्यक हैं। किन्तु सम्पूर्णरूपसे निरपेक्ष अर्थात् प्रेमकी प्राप्ति न होनेतक आश्रमोचित चिह्न त्रिदण्ड एवं गैरिक वसन आदि धारण करते हुए भजन साधनमें तत्पर रहेंगे।

सम्पूर्ण निरपेक्ष जातप्रेम भक्त भी लोक-कल्याणार्थ आश्रमोचित वेशादि धारण करते हैं। साधक भक्त अनासक्त भावसे आश्रमोचित वेशमें रह कर हरिभजन करेंगें। अन्यथा शास्त्र एवं महाजनोंकी आज्ञा-उल्लंघन हेतु अमंगल होगा।

प्राकृत बुद्धिसम्पन्न सहजियाजन त्रिदण्ड एवं गैरिक वसन धारणके विरुद्ध समालोचना द्वारा शास्त्रोंके विषयमें अपनी अनभिज्ञताका ही परिचय देते हैं और व्यर्थ ही वैष्णव अपराधका आवाहन करते हैं। यदि गैरिक वस्त्र इतना ही अपवित्र अथवा वैष्णवोंके लिए अवैध होता तो रामायण-महाभारत कालके बड़े-बड़े त्रिकालदर्शी ऋषि-महर्षि एवं कलियुगमें श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य जैसे निखिल शास्त्र पारदर्शी, अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न, परम भक्तिमान वैष्णवाचार्यगण उसे क्यों धारण करते? श्रीगोपालचम्पूमें (पूर्वचम्पू ३/६४) में पौर्णमासी देवीके वस्त्र काषाय रंगके बतलाए गए हैं। श्रीरूप गोस्वामीने भी स्वरचित विदग्ध माधव नाटकमें श्रीपौर्णमासी देवीको गैरिक (काषाय) वस्त्रधारी लिखा है—

'वहन्ती काषायाम्बरमुरसि सान्दीपनिमुनेः'

(श्रीविदग्धमाधव १/१८)

और भी—

पौर्णमासी भगवती सर्वसिद्धि विधायनी।
काषायवसना गौरी काशकेशीदरायता।।

(श्रीराधाकृष्णगणोद्देशदीपिका ६६ श्लोक)

श्रील जीव गोस्वामीने हरिवंशका श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि नरकासुर द्वारा आबद्ध सभी राजकुमारियोंने श्रीकृष्णचरणकमलोंकी प्राप्ति

हेतु काषाय वस्त्र एवं व्रत–उपवास धारण किया था—

सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः।
व्रतोपवासतत्त्वज्ञाः काङ्क्षन्त्यः कृष्ण–दर्शनम्।।

(गो. च. उ. १८/५० धृत हरिवंश वाक्य)

श्रीचैतन्य भागवतमें श्रीनित्यानन्द प्रभु और नामाचार्य हरिदास ठाकुरके संन्यास वेशका वर्णन है—

आज्ञा शिरे करि' नित्यानन्द - हरिदास।
ततक्षणे चलिलेन पथे आसि हास।।
दोहान संन्यासिवेश - यान यार घरे।
आथेव्यथे आसि' भिक्षा - निमन्त्रण करे।।

(चै. भा. म. १३/१५-१९)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभु स्वयं संन्यासकी महिमा बतलाते हुए अपने माता–पिताको सान्त्वना दे रहे हैं—

भाल हैल, विश्वरूप संन्यास करिल।
पितृकुल, मातृकुल, दुई उद्धारिल।।

(चै. च. आदि १५/१३-१४)

'प्रेम–विलास' १९ विलासमें 'श्रीकृष्णमंगल' नामक ग्रन्थके रचयिता श्रीमाधव आचार्यके संन्यासका वर्णन है—

संन्यास करिया तिँह रहि वृन्दावन।
व्रजेर मधुर भावे करये भजन।।
माधव आचार्य श्रीमाधवी सखी हन।
श्रीरूपेर कृपाय तार हैल उद्दीपन।।

(प्रेमविलास १९ विलास)

प्रेमविलासमें वर्णित इस घटनाके द्वारा श्रीरूप गोस्वामी आदि गोस्वामीवर्गका भी संन्यासके प्रति कहीं भी विरोध नहीं देखा जाता। इसके द्वारा श्रीगौड़ीय वैष्णवोंमें संन्यासकी रीति भी देखी जाती है तथा संन्यासीका भी व्रजरीतिके अनुसार भजनमें अधिकार प्रमाणित होता है।

अतः हरिभजनपरायण गृहत्यागी साधक भक्तोंके लिए त्रिदण्ड संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारण श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए न तो निषिद्ध है, और न गौड़ीय गोस्वामियोंके आनुगत्यसे बाहर है। बल्कि अनधिकारियोंके लिए निष्किंचन परमहंस–वेशका अनुकरण करना ही अशास्त्रीय एवं अवैध है।

पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा
और
भागवत गुरु-परम्परा

आजकल कुछ दिनोंसे श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें श्रीगुरु-परम्पराके सम्बन्धमें नये-नये प्रश्नोंके आविष्कार हो रहे हैं। कुछ लोगोंका विचार यह है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण मध्व-सम्प्रदायमें दीक्षित वैष्णव हैं। वे गौड़ीय वैष्णव नहीं थे। गौड़ीय वैष्णवोंका संग प्राप्त होनेपर भी मध्व सम्प्रदायका प्रभाव इनके ऊपर इतना अधिक था कि इन्होंने स्वरचित ग्रन्थोंमें हठपूर्वक श्रीचैतन्यमहाप्रभु एवं उनके अनुगत श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको मध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त किया है। अतः इन्हें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका आचार्य नहीं माना जा सकता। कुछ अनभिज्ञ लोग कहते हैं—"जगद्गुरु श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादजीने एक नवीन भागवत-परम्पराकी सृष्टि की है। इस भागवत-परम्परामें इन्होंने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरको वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराजका शिष्य तथा श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजको श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरका शिष्य बतलाया है, जो कि अनुचित है।" कुछ सहजिया वैष्णव लोग यह भी शंका उपस्थित कर रहे हैं कि श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वतीने स्वयं ही संन्यास ग्रहण किया है, अतः इनकी भी गुरु-परम्परा ठीक नहीं है। इन समस्त आक्षेपोंका परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवने सबल युक्तियों एवं शास्त्रोंके सुदृढ़ प्रमाणोंके द्वारा खण्डन किया है। उसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आजकल श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादके शिष्य एवं प्रशिष्य सारे विश्वमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित एवं प्रचारित शुद्ध कृष्णभक्ति और श्रीहरिनामका व्यापकरूपसे प्रचार कर रहे हैं। इनके व्यापक प्रचारसे अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेलजियम, कनेडा, आस्ट्रेलिया, इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर आदि विश्वके समस्त प्रधान-प्रधान राष्ट्रों, नगरों एवं ग्रामोंमें, यहाँ तक कि गली-गलीमें हरिनामकी ध्वनि गूंज रही है और विदेशी युवक एवं युवतियाँ भी शुद्धभक्तिके अनुशीलनमें बड़े उत्साहके साथ लग रहे हैं। ये लोग भारतीय वैष्णवोंके साथ मिलकर सर्वत्र हरिनाम-संकीर्तन

एवं शुद्ध भक्तिका प्रचार कर रहे हैं। इससे क्षुब्ध होकर कतिपय अनभिज्ञ एवं नामधारी सहजिया वैष्णव लोग सारस्वत गौड़ीय वैष्णव धाराके प्रति झूठ-मूठका आक्षेप लगाकर साधारण जनताको दिग्भ्रमित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। श्रील गुरुदेवने गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव नामक स्वरचित प्रबन्धमें इस विषयमें एक युक्तिपूर्ण सुसिद्धान्तकी स्थापना की है। हम उस प्रबन्धसे कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

(i) भाष्यकारकी गुरु-परम्परा

भाष्यकारकी गुरुपरम्पराका विचार करनेपर हम जिस ऐतिहासिक सत्यकी उपलब्धि करते हैं, उसका आपलोगोंके निकट वर्णन किया जा रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम विरक्तशिरोमणि पीताम्बरदासके निकट भक्तिशास्त्रमें विशेष निपुणता लाभ की। पश्चात् कान्यकुब्जवासी शौक्र ब्राह्मण कुलोद्भूत श्रीराधादामोदरदास नामक एक वैष्णवके निकट पाञ्चरात्रिकी दीक्षामें दीक्षित हुए। श्रीराधादामोदरदास रसिकानन्द मुरारिके पौत्र थे। उन्होंने एक दूसरे कान्यकुब्जीय ब्राह्मण श्रीनयनानन्ददेव गोस्वामीके निकट दीक्षा ग्रहण की। रसिकानन्द प्रभु पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणके चतुर्थ पुरुष हैं। श्रीरसिकानन्द प्रभु श्रीश्यामानन्द प्रभुके शिष्य थे। पहले जिन नयनानन्ददेव गोस्वामीका उल्लेख किया गया है, वे श्रीरसिकानन्दके पुत्र थे। श्रीश्यामानन्दके गुरु श्रीहृदयचैतन्य और श्रीहृदयचैतन्यके गुरु श्रीगौरीदास पण्डित थे, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुने गौरीदास पण्डितके ऊपर कृपाकी थी। श्रीश्यामानन्द प्रभु आचार्य श्रीहृदय-चैतन्यके शिष्य होनेपर भी परवर्तीकालमें उन्होंने श्रीजीव गोस्वामीका शिष्यत्व ग्रहण किया। श्रीजीव गोस्वामी श्रीरूप गोस्वामीके शिष्य और श्रीरूप गोस्वामी श्रीसनातन गोस्वामीके शिष्य थे। श्रीसनातन गोस्वामी श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत परिकर थे।

(ii) भाष्यकारकी शिष्य-परम्परा

श्रीमन्महाप्रभुसे प्रारम्भकर भाष्यकार श्रीबलदेव विद्यभूषण तक की पाञ्चरात्रिक परम्पराका उल्लेख किया गया है। नीचे शिष्य-परम्पराका उल्लेख किया जा रहा है—श्रीउद्धरदास, (कहीं-कहीं उद्धवदास) का भाष्यकारके शिष्यके रूपमें उल्लेख देखा जाता है। किसी-किसी-के मतसे ये दोनों पृथक् व्यक्ति हैं। जैसा भी हो उद्धवदासके श्रीमधुसूदनदास नामक शिष्य था। जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन्हीं मधुसूदनदासके शिष्य थे। ये कुछ दिनों पूर्व माथुर

मण्डल, क्षेत्र मण्डल और गौड़ मण्डलमें सिद्ध जगन्नाथदासके नामसे सार्वभौम वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हुए। इन सिद्ध जगन्नाथदास बाबाजी महाराजको ही श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने भागवत-परम्परा-क्रमसे भजन शिक्षागुरुके रूपमें ग्रहण किया। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने वैष्णव-सार्वभौम जगन्नाथदास बाबाजी महाराजके निर्देशानुसार श्रीमन्महाप्रभुके जन्मस्थल श्रीधाम मायापुरका प्रकाश किया था। श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजके शिक्षागुरु या भजनगुरु श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर थे। श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराजजीने मेरे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' को दीक्षामन्त्र आदि प्रदानकर अपने शिष्यके रूपमें वरण किया था। जो लोग इस परम्पराको स्वीकार करनेमें अक्षम हैं, वे श्रीतोताराम बाबाजी महाराज द्वारा उल्लिखित तेरह प्रकारके अपसम्प्रदायोंमें परिगणित हैं अथवा चौदहवें अपसम्प्रदायके सृष्टिकर्ता हैं।

(iii) पाञ्चरात्रिक परम्परा एवं भागवत परम्परा

उल्लिखित गुरु-परम्परासे हम जान पाते हैं कि श्रीबलदेव विद्याभूषण श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्रीश्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं। आचार्य श्रीश्यामानन्द द्वारा श्रीजीवगोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार करनेके कारण तथा श्रीजीवगोस्वामीके एकान्त रूपानुग होनेके कारण श्रीबलदेव विद्याभूषण भी रूपानुग वैष्णव हैं। जो लोग बलदेव विद्याभूषणको रूपानुग नहीं मानकर श्यामानन्द परिवारभुक्त कहकर यह मानते हैं कि वे उन्नत-उज्ज्वल-रसके परमोच्चतम सेवाभावके अधिकारी नहीं हैं, वे निश्चय ही भ्रान्त एवं अपराधी हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषण श्रीदामोदरदासके निकट पाञ्चरात्रिक दीक्षामें दीक्षित होनेपर भी उन्होंने श्रीमद्भागवत एवं गोस्वामियोंके भक्तिशास्त्रोंकी शिक्षा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीसे ग्रहण की थी। पाञ्चरात्रिक परम्पराके बिना भागवत परम्पराका श्रेष्ठत्व है। भागवत परम्परा भजन-निष्ठाके तारतम्यके ऊपर प्रतिष्ठित है। भागवत परम्परामें पाञ्चरात्रिक परम्परा अनुस्यूत रहनेके कारण भागवत परम्पराका माधुर्य एवं श्रेष्ठत्व है। इसमें कालगत व्यवधान नहीं होता। शुद्धभक्तिके विचारसे पाञ्चरात्रिक और भागवत दोनों ही मत एकार्थ प्रतिपादक हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—पञ्चरात्रे भागवते एइ लक्षण कय। (चै. च. म. १९/१६९) प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय जिस प्रकार श्रीरूप गोस्वामीके अनुगतजनके रूपमें अपना परिचय देकर आचार्य श्रीजीवगोस्वामीके

चरणोंमें अपराधका सञ्चय करते हैं, उसी प्रकार आजकल जाति गोस्वामियोंका उच्छिष्ट ग्रहण करनेवाले कतिपय सहजिया कर्ताभजा, किशोरीभजा, भजन खाजा सम्प्रदायके लोग चक्रवर्ती ठाकुरके अनुगत होनेका अभिमान करते हुए भी भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणके प्रति नाना प्रकारके अवज्ञासूचक वाक्योंका प्रयोग करनेके कारण अत्यन्त घृणित नरकगामी हो रहे हैं।

हम यहाँपर पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा एवं भागवत परम्पराकी वृक्षरचना* प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसके द्वारा पाठकवर्ग श्रीभागवत-परम्पराका वैशिष्ट्य अच्छी तरह समझ सकेंगे तथा इसके द्वारा यह भी समझ सकेंगे कि पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा भागवत गुरु-परम्परामें अन्तर्भुक्त है।

इस वृक्षरचनाके द्वारा हम श्रीश्यामानन्द प्रभु, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी, श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर आदिकी पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा तथा भागवत गुरु-परम्पराका उल्लेख करेंगे।

श्रीश्यामानन्द प्रभु—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीनित्यानन्द प्रभुके शिष्य गौरीदास पण्डित हैं और उनके शिष्य श्रीहृदयचैतन्य श्यामानन्द प्रभुके दीक्षागुरु हैं। भागवत गुरु-परम्परामें श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य श्रीसनातन गोस्वामी, उनके शिष्य श्रीरूप गोस्वामी, उनके शिष्य श्रीजीव गोस्वामी हैं। इन्हीं श्रीजीव गोस्वामीके शिक्षा-शिष्य हैं—श्रीश्यामानन्द प्रभु। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि श्रीजीवगोस्वामी तत्त्व, रस, भजन आदि सभी विषयोंमें श्रीहृदयचैतन्यसे श्रेष्ठ थे। इसीलिए श्रीहृदयचैतन्यने स्वयं ही उन्नत भजनशिक्षाके लिए श्रीश्यामानन्द प्रभुको श्रीजीव गोस्वामीके पास भेजा और श्रीश्यामानन्द प्रभुने श्रीजीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि श्रेष्ठत्व किसका है—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराका अथवा भागवत गुरु-परम्पराका?

श्रीनरोत्तम ठाकुर—इसी प्रकार पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीनरोत्तम ठाकुरके गुरु हैं—श्रीलोकनाथ गोस्वामी। किन्तु, श्रीलोकनाथ गोस्वामीके पाञ्चरात्रिक दीक्षा गुरुका उल्लेख नहीं मिलता। श्रीगौड़ीय-वैष्णव-अभिधान आदिमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको इनका गुरु बतलाया गया है, किन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि श्रीमन्महाप्रभुने किसीको पाञ्चरात्रिक प्रणालीके अनुसार

---

* पृष्ठ ३५ पर द्रष्टव्य

पाञ्चरात्रिक गुरु–परम्परा तथा भागवत–परम्परा

श्रीमाधवेन्द्रपुरी
श्रीईश्वरपुरी
श्रीअद्वैताचार्य
श्रीचैतन्य महाप्रभु
यदुनन्दनाचार्य
(दीक्षागुरु)
श्रीस्वरूपदामोदर, श्रीरूप गोस्वामी
(शिक्षागुरु)
श्रीरघुनाथदास गोस्वामी
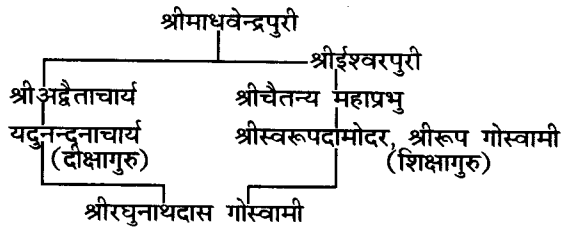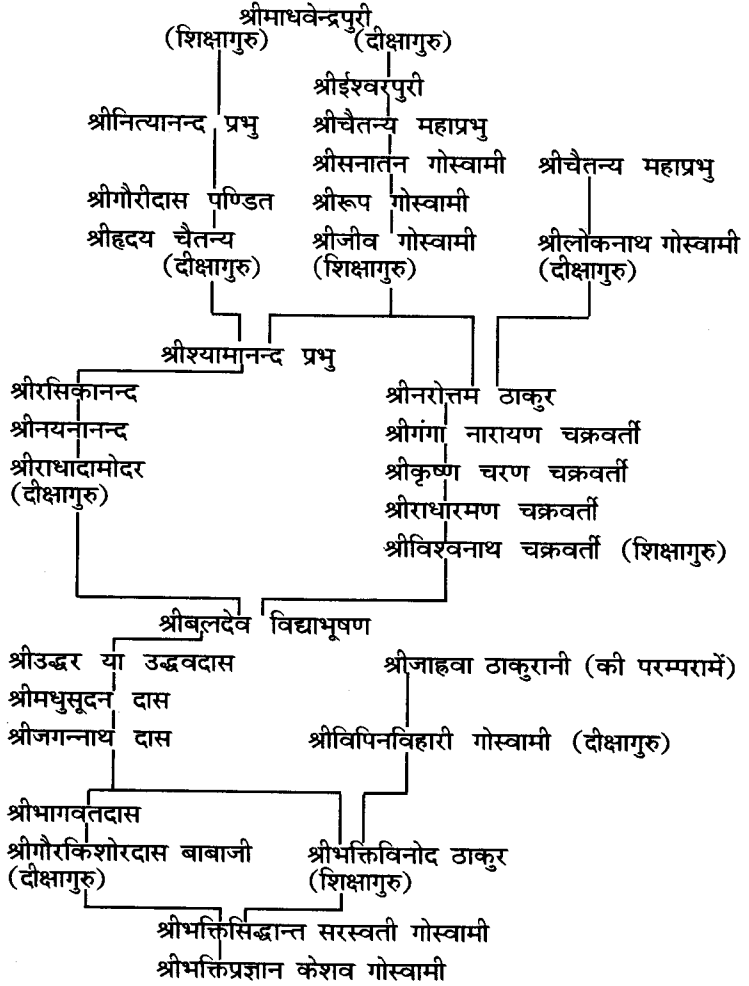
शिष्य नहीं बनाया। अतः यदि श्रीमन्महाप्रभु श्रीलोकनाथ गोस्वामीके गुरु हैं, तो भागवत गुरु-परम्पराके आधारपर ही हैं। दूसरी ओर श्रीनरोत्तम ठाकुर श्रीलोकनाथ गोस्वामीके पाञ्चरात्रिक शिष्य होनेपर भी भागवत परम्परामें वे भी श्रीजीव गोस्वामीके ही शिष्य हैं और उन्हींका आनुगत्य करते हुए भजनशिक्षामें निष्णात हुए।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामी—श्रीरघुनाथदास गेस्वामी पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीयदुनन्दनाचार्यके शिष्य हैं, जो कि श्रीअद्वैताचार्यकी पाञ्चरात्रिक शाखामें अवस्थित हैं। दूसरी ओर श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीके जीवन चरित्रपर गम्भीरतासे विचार करनेसे हम पाते हैं कि इनके जीवनपर श्रीस्वरूप-दामोदर और श्रीरूप गोस्वामीकी भजन-शिक्षाका अमिट प्रभाव रहा है। श्रीस्वरूपदामोदर और श्रीरूप गोस्वामी भागवत परम्परामें इनके गुरु हैं। यहाँ भी यदि हम पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा और भागवत गुरु-परम्पराकी तुलना करें, तो भागवत परम्पराकी श्रेष्ठताको सूर्यकी भाँति देदीप्यमान पाते हैं।

श्रीबलदेव विद्याभूषण—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराके विचारसे ये श्रीश्यामानन्द प्रभुकी परम्परामें श्रीराधादामोदरके पाञ्चरात्रिक शिष्य हैं। दूसरी ओर भागवत गुरु-परम्पराकी दृष्टिसे ये श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके शिष्य हैं। श्रीराधादामोदरने स्वयं ही श्रीबलदेव विद्याभूषणको श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके निकट श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य गोस्वामी-ग्रन्थोंके अनुशीलन तथा उच्च भजन-शिक्षाके लिए भेजा था। श्रील बलदेव विद्याभूषणके जीवनमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका आनुगत्य सर्वविदित है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके आनुगत्यमें ही इन्होंने गल्तागद्दीमें श्रीवैष्णवोंको परास्तकर श्रीश्रीराधागोविन्दजीकी सेवा-पूजाको अक्षुण्ण रखा तथा उन श्रीगोविन्ददेवका प्रसाद प्राप्तकर श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना की, जो श्रीरूप गोस्वामीके आराध्य देव थे। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके रूपानुगत्वके विषयमें संशयका कोई स्थल ही नहीं है। अतः श्रीचक्रवर्ती ठाकुरके अनुगत होनेके कारण इनके भी रूपानुगत्वमें कोई संशय नहीं है। दूसरी ओर यह सर्वविदित तथ्य है कि इन्होंने श्रीगोविन्ददेवकी कृपा प्राप्तकर उन्हींकी सेवाको अक्षुण्ण रखा, जो कि श्रीरूप गोस्वामीके प्राणधनस्वरूप थे। अतः इस दृष्टिकोणसे भी श्रीरूप गोस्वामी और उनके आराध्यदेव श्रीगोविन्ददेवकी कृपा प्राप्त करनेके कारण क्या इनके रूपानुगत्वमें कोई संशय रह जाता है?

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराके विचारसे श्रीविपिन विहारी गोस्वामी इनके दीक्षा गुरु हैं, जो श्रीश्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें अवस्थित हैं। दूसरी ओर वैष्णव सार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराज भागवत गुरु-परम्परामें इनके भजन-शिक्षा गुरु हैं। जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज श्रीबलदेव विद्याभूषणकी परम्परामें प्रसिद्ध मधुसूदन दास बाबाजी महाराजके शिष्य हैं। तत्त्वज्ञान-भजनशिक्षा आदि विषयोंमें श्रीविपिनविहारी गोस्वामीकी अपेक्षा वैष्णवसार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजकी श्रेष्ठता बतानेकी आवश्यकता ही नहीं है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके जीवनमें भी श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजके आनुगत्यकी छाप है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर—पाञ्चरात्रिक गुरुपरम्पराके विचारसे इनके दीक्षा गुरु श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराज हैं। श्रील बाबाजी महाराज पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी शाखामें अवस्थित हैं। श्रील बाबाजी महाराजने वैष्णव सार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजके शिष्य श्रीभागवत दास बाबाजी महाराजसे वेष ग्रहण किया। अतः भागवत परम्परामें श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजकी शाखामें हुए। इस प्रकार श्रील सरस्वती ठाकुर पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी परम्परामें हुए तथा भागवत गुरु-परम्परामें श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे जुड़े हुए हैं।

दूसरी ओर इनके जीवनचरित्रपर प्रकाश डालनेसे यह सिद्ध होता है कि इन्होंने श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके आचार, विचार, भजनप्रणाली एवं उनकी आकांक्षापूर्तिको ही अपने जीवनका उद्देश्य बनाया। अतः भागवत गुरु-परम्परामें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर इनके गुरु हुए, जिनके गुरु (भागवत-परम्परामें) श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराज थे। अतः श्रीगौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्य श्रील सरस्वती ठाकुरकी गुरु-परम्परापर अँगुली उठानेका तनिक भी अवकाश नहीं मिलता है।

पाञ्चरात्रिक परम्परा एवं भागवत परम्पराके विषयमें और भी कतिपय विचारणीय तथ्य निम्नलिखित हैं—

(१) यदि पाञ्चरात्रिक दीक्षा गुरु स्वरूपतः (अपने सिद्ध स्वरूपमें) शिष्यकी अपेक्षा निम्न रसमें अवस्थित हो, तो वे गुरु अपने उस शिष्यको किस प्रकार उन्नत रसकी भजन शिक्षा देंगे? अतः इस स्थितिमें उन्नत

भजन शिक्षाके लिए शिष्यको अन्यत्र वैसे भजनशील वैष्णवकी शरणमें जाना पड़ेगा, जो उसे वैसी उच्च भजन शिक्षा दे सकते हैं। उदाहरणस्वरूप श्रीहृदयचैतन्य स्वरूपतः कृष्णलीलामें सख्यरसके परिकर थे, किन्तु उनके शिष्य श्रीश्यामानन्द प्रभु (दुःखी कृष्णदास) मधुररसके परिकर थे। अतएव श्रीहृदयचैतन्यने स्वयं ही उन्हें श्रीजीव गोस्वामीके समीप मधुर-रसोचित-भजनशिक्षाके लिए भेजा था।

(२) यदि पाञ्चरात्रिक परम्परामें गुरु और शिष्य एक ही रसमें हों, किन्तु गुरु उतने उन्नत अधिकारमें न हों, तो शिष्यको उच्चतर भजन शिक्षाके लिए अन्य उत्तम भागवतकी शरणमें जाना पड़ेगा, जो कि भागवत गुरु-परम्परामें उनके गुरु कहे जाएँगे।

अतः इन दो विचारोंसे हम देखते हैं कि पाञ्चरात्रिक प्रणालीकी अपनी कुछ त्रुटियाँ हैं, किन्तु भागवत परम्परा इन सबसे मुक्त सर्वथा निर्दोष है।

(३) समस्त गौड़ीय सम्प्रदाय अपनेको श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुगत मानता है और श्रीमन्महाप्रभुको जगद्गुरुके रूपमें माना है। किन्तु उनके इस आनुगत्यका तथा महाप्रभुको गुरु माननेका आधार क्या है? श्रीमन्महाप्रभु पाञ्चरात्रिक परम्परामें किसीके भी गुरु नहीं हैं, हालाँ कि वे स्वयं पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीईश्वरपुरीके शिष्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुने किसीको दीक्षामन्त्र दिया हो, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि यदि गौड़ीय वैष्णव समाज श्रीचैतन्य महाप्रभुके आनुगत्य और शिष्यत्वको स्वीकार करता है, तो उसका एक ही आधार है और वह है—भागवत गुरु-परम्परा।

(४) प्रत्येक गौड़ीय वैष्णव अपनेको रूपानुग कहनेमें गर्वका बोध करता है। परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि श्रीरूप गोस्वामीने कितने लोगोंको पाञ्चरात्रिक विधिसे अपना शिष्य बनाया? एकमात्र जीव गोस्वामी ही उनके दीक्षा-शिष्य हैं। तथापि गौड़ीय वैष्णव समाज किस आधारपर श्रीरूप गोस्वामीको अपना गुरु स्वीकार करता है? स्वयं श्रीरूप गोस्वामी भी श्रीचैतन्य महाप्रभुके दीक्षित शिष्य नहीं हैं। अतः रूपानुगत्व और रूपानुगत्व द्वारा चैतन्यानुगत्व एक साथ कैसे सम्भव है? स्वयं श्रीसनातन गोस्वामी, जो श्रीरूप गोस्वामीके भी शिक्षा गुरु हैं, अपनेको रूपानुग कहनेमें कोई दुविधा बोध नहीं करते। इन सबका एक ही आधार है—भागवत गुरु-परम्परा। भागवत गुरु-परम्पराके आधारपर ही श्रीरूप गोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य हैं और गौड़ीय वैष्णव समाज श्रीरूप गोस्वामीको अपना गुरु मानता है।

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीके पाञ्चरात्रिक दीक्षा गुरु कौन हैं? उन्होंने अपने किसी ग्रन्थमें अपने पाञ्चरात्रिक दीक्षागुरुका नामोल्लेख नहीं किया है। उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतमें अपने शिक्षागुरुओंके नामोंका उल्लेख किया है—

एई छय गुरु शिक्षागुरु जे आमार।
ताँ सबार पादपद्मे कोटि नमस्कार।।

और श्रीचैतन्यचरितामृतके प्रत्येक अध्यायके अंतमें लिखा है—

श्रीरूप-रघुनाथपदे यार आश।
चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास।।

इसके द्वारा इन्होंने श्रीरूप और रघुनाथदास गोस्वामियोंको ही विशेषरूपमें अपना शिक्षागुरु माना है। अतएव इनके गुरु माननेका आधार भी भागवत गुरु-परम्परा ही है।

इन तथ्योंसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भागवत परम्परा पाञ्चरात्रिक परम्पराको क्रोड़ीभूतकर सर्वदा देदीप्यमान है। जो इन तथ्योंकी अनदेखी कर श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रीभक्तिविनोद ठाकुर, श्रीसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके रूपानुगत्व और गुरुप्रणालीपर कटाक्ष करते हैं, वे निश्चय ही श्रीचैतन्य महाप्रभुके घोर विरोधी और कलिके गुप्तचर हैं।

अतएव परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवने बलदेव विद्याभूषणकी गुरुप्रणाली तथा भागवत एवं पाञ्चरात्रिक परम्पराके विषयमें जो विचार लिखे हैं, वे युक्तिसंगत और शास्त्रसिद्धान्त सम्मत हैं।

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका मध्वानुगत्य

श्रीलगोपाल भट्ट गोस्वामी, श्रीकविकर्णपूर एवं गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रमुख गौड़ीय वैष्णव आचार्यों द्वारा उल्लिखित गुरु-परम्पराके द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुगतजन श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको ब्रह्म-मध्व-गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें स्वीकार करते हैं। इसके द्वारा गौड़ीयजन अपनेको श्रीमध्व सम्प्रदायकी शाखाका मानते हैं। श्रील जीव गोस्वामी, श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर, जगद्गुरु श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती आदि वैष्णव आचार्योंने भी इसी मतको ग्रहण किया है। किन्तु आजकल कुछ लोग, श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु इस सम्प्रदायके आदि प्रवर्तक हैं—इस स्वकपोल कल्पित मतको स्थापित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

गुरु-विरोधी श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद एवं श्रीअनन्त वासुदेव तथा कुछ और व्यक्तियोंने विशेषरूपसे श्रीमन्महाप्रभुका सम्प्रदाय श्रीब्रह्म-मध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत नहीं है, बल्कि अद्वैतवादी सम्प्रदायके अन्तर्गत है, इसे प्रमाणित करनेके लिए जी-जानसे चेष्टा की है। विशेषतः श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद महोदयने स्वलिखित 'आचार्य श्रीमध्व' ग्रन्थमें महाप्रभुके सम्प्रदायको श्रीमध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत स्वीकार कर भी बादमें अपने पूर्व प्रमाणोंको अप्रामाणिक मानकर अपने 'अचिन्त्य-भेदाभेद' नामक ग्रन्थमें श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायको एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय प्रमाणित करनेकी असफल चेष्टा की है। विपक्षकी सारी युक्तियाँ उनके ग्रन्थमें दृष्टिगोचर होती हैं।

परमाराध्य पाषण्डगजैकसिंह आचार्यकेसरी श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीने उक्त ग्रन्थमें उल्लिखित सारी युक्तियोंका स्वरचित अचिन्त्यभेदाभेद नामक प्रबन्धमें शास्त्रीय प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंके द्वारा खण्डन किया है। इनका यह प्रबन्ध श्रीगौड़ीय-पत्रिका (बंगला) एवं

श्रीभागवत-पत्रिकाके कई अंकोंमें प्रकाशित हुआ है। हम संक्षेपमें कुछ प्रमाणों और युक्तियोंका उल्लेख कर रहे हैं।

पहले हम श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद द्वारा उठाई गई आपत्तियों तथा विपक्ष द्वारा दी जानेवाली प्रधान-प्रधान युक्तियोंका उल्लेख कर रहे हैं।

(१) 'श्रीचैतन्य चरितामृत' और 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदय' नाटकके अनुसार श्रीचैतन्यदेवने केवलाद्वैतवादी संन्यासी श्रीकेशवभारतीके निकट संन्यास वेश ग्रहण किया था। उन्होंने स्वयं अपनेको मायावादी संन्यासी तो कहा ही है, इसके अतिरिक्त काशीके मायावादी संन्यासियोंके गुरु प्रकाशानन्द सरस्वतीने भी उनको मायावादी सम्प्रदायका संन्यासी बताया है—

'केशव भारतीर शिष्य ताहे तुमि धन्य।।'
'साम्प्रदायी संन्यासी तुमि रह एई ग्रामे।।'

सार्वभौम भट्टाचार्यने भी ऐसा ही माना है—

'भारती सम्प्रदाय एइ हयेन मध्यम।'

(चै. च. म. ६/७२)

उत्तर—विपक्षकी यह युक्ति सर्वथा निराधार है। संसारको असार एवं दुःखदायी जानकर भगवानके चरणकमलोंकी सेवा-प्राप्ति ही जीवोंके लिए सर्वोत्तम श्रेयः है। इसलिए कोई सौभाग्यवान व्यक्ति शब्द-ब्रह्ममें पारंगत, भगवत्-अनुभूतिसम्पन्न और विषयासक्तिरहित व्यक्तिके निकट दीक्षा एवं शिक्षा ग्रहणकर परमार्थमें प्रवेश करता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी नर-लीलामें पितृश्राद्धके बहाने गया धाममें उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने प्रेमकल्पतरुके मूल श्रीमाधवेन्द्रपुरीके शिष्य परम रसिक एवं भावुक तथा प्रेमकल्पतरुके अंकुरस्वरूप श्रीईश्वरपुरीपादके चरणोंमें अपनेको सर्वथा अर्पित कर दिया—

प्रभु बले गया यात्रा सफल आमार।
यत क्षणे देखिलाङ् चरण तोमार।।

(चै. भा. आ. १७/५०)

संसार-समुद्र हैते उद्धारह मोरे।
एई आमि देह समर्पिलाङ् तोमारे।।
कृष्णपादपद्मेर अमृतरस पान।
आमारे कराओ तुमि एइ चाहि दान।।
आर दिने निभृते ईश्वर पुरी स्थाने।

मन्त्र दीक्षा चाहिलेन मधुर-वचने।।
(चै. भा. आ. १७/५४)

तबे तान स्थाने शिक्षा-गुरु नारायण।
करिलेन दशाक्षर मन्त्रेर ग्रहण।।
(चै. भा. आ. १७/१०७)

श्रीचैतन्य भागवतके इस प्रसंगके अनुसार श्रीनिमाई पण्डितने श्रीईश्वर पुरीके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेकी लीला की तथा उनसे संसारसे उद्धारकर श्रीकृष्णप्रेम प्राप्तिके लिए दीक्षा मन्त्रके लिए प्रार्थना की। श्रीपुरीपादने भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उन्हें दशाक्षर मन्त्रके द्वारा दीक्षा दी।

इसके कुछ समय उपरान्त श्रीनिमाई पण्डितने कटवामें अद्वैतवादी संन्यासी श्रीकेशव भारतीसे संन्यास वेश ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् प्रेमोन्मादमें भरकर वृन्दावनके लिए चल पड़े। राढ़ देशमें पहुँचकर प्रेमावेशमें श्रीमद्भागवत (११/२३/५८) के श्लोकका उच्चारण करते हुए कहने लगे—

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।

अर्थात् मैं प्राचीन महर्षियों द्वारा उपासित इस परात्मनिष्ठारूप भिक्षाश्रमका आश्रयकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा इस दुरन्त अज्ञान-सागरको अनायास ही पार कर लूँगा।

प्रभु कहे—साधु एइ भिक्षुर-वचन।
मुकुन्द सेवनव्रत कैल निर्धारण।।
परात्मनिष्ठामात्र वेश-धारण।
मुकुन्द-सेवाय हय संसार-तारण।।
सेई वेश कैल एबे वृन्दावन गिया।
कृष्णनिषेवन करि' निभृते वसिया।।
(चै. च. म. ३/७-९)

अर्थात् संन्यास वेश ग्रहणकर महाप्रभु कह रहे हैं कि त्रिदण्डि भिक्षुका यह वचन परम सत्य है, क्योंकि इस वेश ग्रहणके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंका सेवाव्रत निर्धारित होता है। इसके द्वारा भौतिक विषयोंके प्रति निष्ठाका परित्यागकर परात्मनिष्ठा (श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें ऐकान्तिक निष्ठा) ही इस वेशग्रहणका तात्पर्य है। मैंने इस वेशको ग्रहण तो किया, अब मैं वृन्दावनमें जाकर कृष्णके चरणकमलोंकी सेवा करूँगा।

अतः उक्त पद्यमें 'परात्मनिष्ठामात्र वेशधारण' यह विशेष विचारणीय है। श्रीमहाप्रभुने संन्यासके द्वारा श्रीकेशव भारतीसे भगवद्भक्ति-अनुशीलनके अनुकूल केवल वेश ग्रहण किया। उनके अद्वैतवादके किसी विचार अथवा मंत्रको ग्रहण नहीं किया, बल्कि आजीवन केवलाद्वैतवाद या मायावादके सिद्धान्तोंका खण्डन किया। अतः श्रीईश्वरपुरीपादको ही श्रीचैतन्य महाप्रभुने यथार्थ गुरुके रूपमें ग्रहण किया है; क्योंकि इनकी शुद्धाभक्तिको आजीवन ग्रहण और उसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमाधवेन्द्रपुरीपाद और श्रीईश्वरपुरीपाद मध्व-सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हैं। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके अनुगत गौड़ीय वैष्णव भी मध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हैं। केवल यही नहीं श्रीचैतन्य महाप्रभुके समकालीन उनके लीलापरिकर श्रीनित्यान्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि, ब्रह्मानन्दपुरी आदि सभी श्रीमाधवेन्द्रपुरीकी धारामें होनेके कारण श्रीमध्व सम्प्रदायके ही अनुगत हैं।

श्रीमाधवेन्द्र पुरीके शिष्योंके प्रति श्रीमन्महाप्रभु सर्वदा गुरुवत् सम्मान करते थे और श्रीईश्वरपुरीके शिष्योंके प्रति सतीर्थ बुद्धि रखते थे। 'गुरोराज्ञा ह्यविचारणीया—इस सिद्धान्तके अनुसार ही उन्होंने गोविन्दको अपने सेवकके रूपमें ग्रहण किया था, जिससे प्रमाणित होता है कि श्रीईश्वर पुरी ही उनके यथार्थ गुरु थे।

(२) अद्वैतवादी केशव भारतीके निकट संन्यास लेनेके कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हैं।

उत्तर—युक्तिके लिए उनके इस विचारको स्वीकार करनेपर यह भी कहा जा सकता है कि श्रीमध्वाचार्यने भी केवलाद्वैतवादी अच्युतप्रेक्षसे संन्यास ग्रहण किया था, इसलिए वे भी केवलाद्वैतवादी संन्यासी हैं। अतएव श्रीमन्महाप्रभुजीके मध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत होनेमें बाधा ही कहाँ रही, क्योंकि दोनों ही अद्वैतवादी शांकर सम्प्रदायके संन्यासी स्वीकृत होते हैं। दूसरी बात, यह कहना भी युक्तिसंगत होगा कि श्रीमध्वाचार्यने शंकर सम्प्रदायकी रीति-नीतिके अनुसार एकदण्ड ग्रहण किया था, इसलिए उनके आदर्शका अनुसरण करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी शांकर सम्प्रदायके संन्यासी श्रीकेशवभारतीके निकट एकदण्ड संन्यास ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि गौड़ीय वैष्णव श्रीमध्वाचार्यके अनुगत हैं।

(३) गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीजीवगोस्वामीने तत्त्व-सन्दर्भ और सर्वसंवादिनी आदि ग्रन्थोंमें कहीं भी मध्व सम्प्रदायके साथ गौड़ीय सम्प्रदायके किसी प्रकारके

सम्बन्धका उल्लेख नहीं किया है। श्रीबलदेव विद्याभूषणके अपने प्रारम्भिक जीवनमें मध्व सम्प्रदायमें दीक्षित होनेके कारण तथा बादमें श्रीगौड़ीय सम्प्रदायमें प्रवेश करनेके कारण उनका रुझान स्वाभाविक रूपसे मध्व सम्प्रदायके प्रति था। इसीलिए बलदेव विद्याभूषणने पूर्वाग्रहवशतः खींचातानीकर तत्त्व-सन्दर्भकी टीकामें श्रीमध्वसम्प्रदायके नामका उल्लेख किया है तथा स्वरचित प्रमेयरत्नावली ग्रन्थमें लिखित गुरुपरम्परामें श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके अनुगत सम्प्रदायको श्रीमध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त बताया है।

उत्तर—उपरोक्त आरोप सर्वथा निराधार एवं स्वकपोल कल्पित है। वस्तुतः जीव गोस्वामीने तत्त्ववादके गुरु श्रीमध्वाचार्यके तत्त्ववादको लक्ष्यकर तथा उसका ही अवलम्बनकर तत्त्वसन्दर्भ, भगवत्सन्दर्भ आदिकी रचनाकी है। इतना ही नहीं, उन्होंने 'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं' (श्रीमद्भा. १/२/२१) आदि तत्त्ववादके मूल प्रमाण श्लोकोंकी भी अपने उक्त ग्रन्थमें अवतारणा की है। वैष्णव सम्प्रदायके चारों आचार्योंमें केवल मध्वाचार्य ही तत्त्ववादीके नामसे प्रख्यात हैं। इसीलिए माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके वैष्णवगण तत्त्ववादी हैं, क्योंकि श्रीजीव गोस्वामीने स्वयं तत्त्ववादकी प्रतिष्ठा की है। उन्होंने तत्त्वसन्दर्भके मंगलाचरणके तृतीय श्लोकमें अपने गुरु और परमगुरु श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामीको 'तत्त्वज्ञापकौ' अर्थात् तत्त्वज्ञापक आचार्य लिखा है। वैष्णवाचार्यकुलमुकुट श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी इस श्लोककी टीकामें उन्हीं की भाँति श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीको 'तत्त्वविदुत्तमौ' अर्थात् सर्वोत्तम तत्त्वविद् निर्देश किया है। इसके द्वारा यह भी सूचित होता है कि जिस प्रकार श्रीजीव गोस्वामीने श्रीमध्वाचार्यको सम्मान दिया है उसी प्रकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने जीव गोस्वामीका अनुसरण कर ही मध्वाचार्यको सम्मानित किया है तथा बलदेव विद्याभूषणने जीव गोस्वामीकी अपेक्षा श्रीलरूप-सनातन गोस्वामीद्वयको अधिकतर गौरवान्वित किया है।

वस्तुतः श्रीबलदेव विद्याभूषण श्रीगौर-नित्यानन्द प्रभुकी एवं तदनन्तर श्रील जीवगोस्वामीपादकी आम्नाय-धारामें अवस्थित हैं। भागवत परम्पराके अनुसार वे श्रीनित्यानन्द प्रभुसे नवीं पीढ़ीमें और पाञ्चरात्रिक परम्पराके अनुसार आठवीं पीढ़ीमें स्वीकृत हैं। ऐतिहासकोंने उनकी पाञ्चरात्रिक परम्पराको निम्नलिखित रूपसे स्वीकार किया है—श्रीनित्यानन्द, श्रीगौरीदास पण्डित, हृदयचैतन्य, श्यामानन्द प्रभु, रसिकानन्द प्रभु, नयनानन्द प्रभु और श्रीराधा-दामोदर। श्रीबलदेव प्रभु इन श्रीराधादामोदरके ही दीक्षित शिष्य हैं

तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके सर्वप्रधान शिक्षा-शिष्य हैं। माध्व गुरु-परम्पराकी किसी शाखामें श्रीबलदेव जैसा दिग्विजयी एवं प्रतिभाशाली विद्वान नहीं हुए—ऐसा इतिहासकारोंने उल्लेख किया है। उस समय श्रीबलदेव जैसा नैयायिक, वैदान्तिक, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रोंका ज्ञाता भारतके किसी सम्प्रदायमें कहीं भी नहीं था। कुछ दिन उडुपी-स्थित श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रतिष्ठित सर्वप्रधान मठमें रहकर वेदान्तके श्रीमाध्वभाष्यका अध्ययन करनेपर भी श्रीमाध्व सम्प्रदायकी अपेक्षा श्रीमाध्व-गौड़ीय सम्प्रदायका ही उनपर अधिक प्रभाव था। उनके जैसे महामहोपाध्याय जगद्वरेण्य विद्वान् व्यक्तिके लिए महाप्रभावशाली माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके वैष्णवाचार्यके श्रीचरणोंका अनुसरण करना युक्तिसंगत और स्वाभाविक है। श्रीबलदेवने जिस तरह माध्व-भाष्यका भलीभाँति अध्ययन किया था, उसी प्रकार उन्होंने शंकर, रामानुज, भास्कराचार्य, निम्बार्क, बल्लभ आदिके भाष्योंका भी पुंखानुपुंख रूपसे अध्ययन किया था। उन्होंने उक्त दर्शनसमूहका अध्ययन किया था, इसलिए वे उन उन सम्प्रदायोंमें अन्तर्भुक्त हैं, ऐसा कहना अयौक्तिक है। श्रीबलदेव प्रभुने तत्त्वसन्दर्भकी टीका, गोविन्द-भाष्य, सिद्धान्तरत्नम्, प्रमेयरत्नावली आदि अनेक ग्रन्थोंमें गौड़ीय वैष्णवोंके पूर्व-पूर्व आचार्योंकी ऐतिहासिक घटनाओं एवं सिद्धान्तोंको उद्धृतकर विश्वके समस्त दार्शनिकोंको यह समझा दिया है कि श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय मध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत है और इस सम्बन्धमें पृथ्वीके प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन एवं आधुनिक समस्त विद्वानोंने एक वाक्यसे श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके सिद्धान्तों और विचारोंको नतमस्तक होकर स्वीकार किया है।

जयपुरकी गल्तागद्दीमें श्रीबलदेव विद्याभूषणने ही गौड़ीय वैष्णवोंके साम्प्रदायिक सम्मानकी रक्षा की थी। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने ही उनको जयपुर भेजा था, इसमें दो मत नहीं है। उन्होंने वहाँ प्रतिवादी 'श्री'-सम्प्रदायके पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित किया था। क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने स्वयं अपने शिक्षा-शिष्य बलदेव विद्याभूषणको गौड़ीय वैष्णवोंका मध्वानुगत्य प्रमाणित करनेकी प्रेरणा दी थी। श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने अपने दीक्षित-शिष्य श्रीकृष्णदेव सार्वभौमको श्रीबलदेवके साथ उनकी सहायताके लिए भेजा था। यदि श्रीचक्रवर्ती ठाकुर उस समय अतिशय वृद्ध और दुर्बल न हुए होते, तो वे स्वयं इस साम्प्रदायिक विवादकी मीमांसाके लिए अवश्य ही जयपुर पधारते तथा उनका भी वही सिद्धान्त होता जो

श्रीबलदेव विद्याभूषणने प्रतिष्ठित किया। श्रीबलदेव विद्याभूषण पहले माध्व-सम्प्रदायके आचार्य या शिष्य थे, इसका कोई ठोस प्रामाणिक आधार नहीं है। केवल जनश्रुति अथवा काल्पनिक संवादोंके अतिरिक्त किसीने कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया है।

विपक्षका यह आक्षेप कि श्रील जीवगोस्वामीने अपने ग्रन्थोंमें कहीं भी गौड़ीय वैष्णवोंके माध्व सम्प्रदायके अनुगत होनेका कोई भी उल्लेख नहीं किया है, अत्यन्त हास्यास्पद एवं अज्ञानसूचक है। श्रील जीव गोस्वामीने तत्त्वसन्दर्भमें स्थान-स्थानपर अपने मध्वानुगत्यका उल्लेख किया है। यहाँ तक कि उन्होंने श्रीमाध्व सम्प्रदायके विजयध्वज, श्रीब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ आदि आचार्योंका आनुगत्य स्वीकारकर उनके रचित ग्रन्थोंसे अनेक प्रमाणोंका संग्रहकर षट्सन्दर्भकी रचना की है। यद्यपि उन्होंने श्रीरामानुजाचार्य और श्रीधरस्वामीपादके वचनोंको भी अनेक स्थलोंमें उद्धृत किया है, तथापि इन आचार्योंको श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका पूर्वाचार्य नहीं माना है। श्रीजीव गोस्वामीने कपिल, पातञ्जल आदि दार्शनिक ऋषियोंके वचनोंको भी भक्तिके अनुकूल होनेपर ग्रहण किया है। परन्तु इसीलिए वे उन सम्प्रदायोंके अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। जहाँ शिष्य-प्रशिष्य—सबका मत लेकर सिद्धान्त स्थापित किया जाता है, केवल उसी स्थलपर सिद्धान्तस्थापकको उस सम्प्रदायके अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है, अन्यत्र नहीं। प्रसंगवश श्रील जीव गोस्वामी द्वारा रचित कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—

"अत्र च स्व-दर्शितार्थविशेष-प्रामाण्यायैव। न तु श्रीमद्भागवत-वाक्यप्रामाण्याय प्रमाणानि श्रुति-पुराणादिवचनानि यथादृष्टमेवोदाहरणीयानि। क्वचित् स्वयमदृष्टचराणि च <u>तत्त्ववादगुरुणामाधुनिकानां श्रीमच्छङ्कराचार्य-शिष्यतां लब्ध्वाऽपि श्रीभगवत्पक्षपातेन, ततो विच्छिद्य, प्रचुर-प्रचारित वैष्णवमतविशेषाणां दक्षिणादि-देशविख्यात-'शिष्योपशिष्यभूत'-'विजयध्वज'-'जयतीर्थ'-'ब्रह्मण्यतीर्थादि-वेद-वेदार्थ विद्वद्वराणां 'श्रीमध्वाचार्यचरणानां' भागवत तात्पर्य-भारततात्पर्य-ब्रह्मसूत्र-भाष्यादिभ्यः संगृहीतानि</u>। तैश्चैवमुक्तं भारत-तात्पर्ये—

'शास्त्रान्तराणि संजानन् वेदान्तस्य प्रसादतः।
देशे देशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग् विधान्।।
यथा स भगवान् व्यासः साक्षान्नारायणः प्रभुः।
जगाद भारताद्येषु तथा वक्ष्ये तदीक्षया।।इति।

तत्र तदुद्धृता श्रुतिश्चतुर्वेदशिखाद्या; पुराणञ्च गारुडादीनां सम्प्रति

सर्वत्रा-प्रचरद्रूपमंशादिकं; संहिता च महासंहितादिका; तन्त्रञ्च तन्त्रभागवतं ब्रह्मतर्कादिकमिति ज्ञेयम्।।

अर्थात्, मैंने (जीवगोस्वामी) षट्-सन्दर्भ ग्रन्थमें अनेक प्रमाण-वचनोंको उद्धृत किया है। इसका कारण अपने प्रदर्शित अर्थ या मतकी प्रामाणिकताका स्थापन करना है—श्रीमद्भागवतके वचनोंकी या सिद्धान्तोंकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए नहीं। क्योंकि श्रीमद्भागवत वेदकी तरह स्वतः-प्रमाण हैं। वे किसी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखते। श्रुति-स्मृति और पुराणदि मूल ग्रन्थोंमें मैंने स्वयं जिन-जिन प्रमाण-वचनोंको जिस रूपमें देखा है, ठीक उसी रूपमें उन्हें इस ग्रन्थमें उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त मैं तत्त्व-सन्दर्भका लेखक (तत्त्ववादी) कतिपय मूल-ग्रन्थोंको स्वयं न देख करके भी (अपने पूर्व-आचार्य) तत्त्ववादके गुरु-वर्गमेंसे (श्रीमाधवेन्द्रपुरी जैसे) उन आचार्योंके वाक्योंसे जो आधुनिक श्रीशंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण करके (शंकर-सम्प्रदायके आचार्योंके निकट संन्यास ग्रहण करके) भी अपने भगवत् पक्षपातित्वके कारण शंकर मतवादसे सम्पूर्ण पृथक् रहे हैं, और बहुल प्रचारित विविध वैशिष्ट्यपूर्ण वैष्णव मतोंके आचार्य अर्थात् दाक्षिणात्यके प्रसिद्ध आनन्दतीर्थके शिष्य-प्रशिष्य रूप विजयध्वज, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ आदि आचार्योंके सिद्धान्तोंसे एवं वेद और वेदार्थके ज्ञाताओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा रचित 'भागवत-तात्पर्य', 'भारत-तात्पर्य' और 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' आदि ग्रन्थोंसे प्रमाण संग्रह कर रहा हूँ।

श्रीमन्मध्वाचार्यने स्वरचित 'भारत-तात्पर्य' में और भी लिखा है—

'उपनिषद् आदि वेदान्तकी कृपासे दूसरे-दूसरे शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य ज्ञात होकर देश-देशमें विविध ग्रन्थोंका विवेचन कर तथा साक्षात् नारायण-स्वरूप श्रीकृष्णद्वैपायन वेद व्यास द्वारा रचित महाभारतादिमें वर्णित सिद्धान्तोंके प्रति आदर रखकर ही मैं सिद्धान्तका स्थापन करूँगा।'

मैं उक्त श्रीमन्मध्वाचार्य आदिके वचनोंका अनुसरण कर चतुर्वेद-शिखादि श्रुति एवं गरुड़ पुराण आदिके वचनोंको, आजकल जिनके अंश-समूह सर्वत्र प्रचारित नहीं हैं, संहिता और महासंहिता आदि तंत्र, तंत्रभागवत, ब्रह्मतर्कादि अनेक ग्रन्थोंका मूल स्वयं न देखकर उनके द्वारा उद्धृत वचनोंसे ग्रहण करके ही 'तत्त्वसन्दर्भ' की रचना कर रहा हूँ।

श्रीजीव गोस्वामीके उक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उन्होंने श्रीमन्मध्वाचार्यको ही श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका एकमात्र पूर्वाचार्य स्वीकार किया

है। श्रीरामानुजाचार्य अथवा श्रीधरस्वामीपादके संबन्धमें उनका कहीं भी ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है। विशेषतः उन्होंने किसी भी दूसरे सम्प्रदायके शिष्य-प्रशिष्य सबका सिद्धान्त ग्रहण नहीं किया है। श्रीरामानुजाचार्यके अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे, परन्तु जीव गोस्वामीने उनका कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है। श्रीधरस्वामीके भी अनेक शिष्य थे, परन्तु जीव गोस्वामीने उनका भी कहीं पर नामोल्लेख नहीं किया है। निम्बार्काचार्यके नामोल्लेखकी तो बात ही अलग रहे, उनके अस्तित्वकी गंध भी इनके ग्रन्थोंमें नहीं पायी जाती।

(४) श्रील जीवगोस्वामिचरणने स्वरचित सर्वसंवादिनी ग्रन्थके मंगलाचरणमें श्रीमन्महाप्रभुकी वन्दनाके श्लोकमें उनकी महिमाका वर्णन करते हुए उन्हें स्वसम्प्रदाय-सहस्राधिदैव अर्थात् अपने द्वारा प्रवर्तित सहस्र-सहस्र सम्प्रदायोंका नित्य अधिदेवता बताया है। अतः वे किसी अन्य सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त कैसे हो सकते हैं? वे स्वतन्त्र गौड़ीय सम्प्रदायके स्वयं प्रवर्तक हैं।

उत्तर—उक्त आपत्ति अत्यन्त हास्यास्पद है। श्रील जीवगोस्वामी द्वारा सर्वसंवादिनीके मंगलाचरणका पूर्ण श्लोक निम्नलिखित है—

दुर्लभ-प्रेम-पीयूषगंगा-प्रवाह-सहस्रं
स्वसम्प्रदाय-सहस्राधिदैवम् श्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तं।

उक्त श्लोकमें श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोदने अथवा विपक्षियोंने 'स्वसम्प्रदाय-सहस्राधिदैवम्' का अर्थ 'स्व-प्रवर्तित सहस्रों सम्प्रदायोंका अधिदेवता' किया है। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि श्रीमन्महाप्रभुने हजारों सम्प्रदायोंका प्रवर्तन नहीं किया है। उन्होंने केवल एक ही सम्प्रदाय चलाया है, जिसे श्रीमाध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय कहते हैं। इसलिए उन लोगों द्वारा किया हुआ अर्थ सम्पूर्णतः भ्रामक है। श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण महोदयने 'स्वसम्प्रदाय-सहस्राधिदैव'का अर्थ 'स्वकीय सम्प्रदायके परम अधिदेवता' किया है। यह अर्थ सुसंगत है। इसे सभी गौड़ीय वैष्णवोंने स्वीकार किया है। यदि कहो कि श्रीमन्महाप्रभु स्वयं भगवान् हैं—साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र हैं; उन स्वयं-भगवान् गौरचन्द्र द्वारा किसी दूसरे व्यक्तिको अपना गुरु मानकर उनसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता क्या है, तो इसका उत्तर है—हाँ! आवश्यकता है, भगवानकी नरलीलामें इसकी आवश्यकता है। श्रीरामचन्द्रने वशिष्ठ मुनिसे, श्रीकृष्णने सान्दीपनि मुनिसे, श्रीमन्महाप्रभुने ईश्वरपुरीसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करनेकी लीला दिखलाई है। इन कार्योंसे भगवत्ताको तनिक भी आँच नहीं लगती। स्वयं-भगवान् जगतको शिक्षा देनेके लिए ही ऐसी-ऐसी

लीलाएँ करते हैं। अतः किसी सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त होनेसे श्रीमन्महाप्रभुकी भगवत्ता या उनके तत्त्वकी कुछ भी हानि होनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्प्रदायका प्रवर्तन भगवान्‌का निजस्व कार्य नहीं है। भगवान्‌के भक्तगण ही सम्प्रदायका प्रवर्तन करते हैं। साम्प्रदायिक ऐतिह्यको देखनेसे सर्वत्र ही ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि विष्णुशक्ति या विष्णुदासोंके द्वारा ही सम्प्रदाय प्रवर्तनका कार्य साधित हुआ है। यद्यपि सनातनधर्मके मूल सनातन पुरुष श्रीभगवान् हैं—'धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्' (भा. ६/३/१९) 'धर्मो जगन्नाथात् साक्षान्नारायणात्' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/५४) आदि शास्त्र-वचनों द्वारा सनातन धर्म भगवान् द्वारा प्रणीत बताया गया है, तथापि 'अकर्ता चैव कर्ता च कार्यं कारणमेव च' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/६०) के द्वारा सम्प्रदाय-प्रवर्तन आदि व्यापारमें भगवान्‌का कोई साक्षात् कर्तृत्व नहीं है। अपने शक्त्याविष्ट पुरुषोंके द्वारा ही वे इस कार्यका सम्पादन किया करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो ब्रह्म, रुद्र, सनक और श्री सम्प्रदाय नहीं होकर वसुदेव, संकर्षण एवं नारायण सम्प्रदाय ही होते।

(५) श्रीमन्महाप्रभु दक्षिण भारत भ्रमणके समय उडुपी गए थे। वहाँ तत्त्ववादी किसी आचार्यसे उनका वार्तालाप हुआ था। उस समय उन्होंने तत्त्ववादियोंके विचारोंका खण्डन किया था; अतः वे कभी भी उस सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त नहीं हो सकते।

उत्तर—श्रीमन्महाप्रभुजीने कालक्रमसे मध्व-सम्प्रदायमें प्रविष्ट विकृत तत्त्ववादियोंके विचारोंका ही खण्डन किया था। उन्होंने साक्षात् रूपमें मध्वाचार्यके शुद्ध भक्तिके विचारोंका खण्डन नहीं किया था। श्रीचैतन्यचरितामृत (म. ९/२७६-२७७) के प्रसंगको देखनेसे ही पाठकवर्ग यह समझ सकते हैं।

प्रभु कहे—कर्मी, ज्ञानी, दुइ भक्तिहीन।
तोमार सम्प्रदाये देखि सेइ दुइ चिह्न।।
सबे, एक गुण देखि तोमार सम्प्रदाये।
'सत्यविग्रह ईश्वरे' करह निश्चये।।

अर्थात् कर्मी और ज्ञानी भक्तिहीन होते हैं और इन दोनोंका आदर तुम्हारे सम्प्रदायमें देखा जा रहा है। हाँ, तुम्हारे सम्प्रदायमें एक बहुत बड़ा गुण है, वह यह कि भगवान्‌का रूप अथवा श्रीविग्रह स्वीकृत हुआ है। यही नहीं, बल्कि वे श्रीविग्रह स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। वे तुम्हारे

सम्प्रदायमें नृत्य-गोपालके रूपमें आराधित होते हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मध्व सम्प्रदायमें कालक्रमसे जो विकृतियाँ आ गई थीं, उनका ही श्रीमन्महाप्रभुने खण्डन किया था। मध्वाचार्यके शुद्ध भक्तिके विचारोंको अथवा श्रीमध्वाचार्यके भाष्योंमें प्रदर्शित मूल सिद्धान्तोंका खण्डन नहीं किया, बल्कि यह पहले ही दिखाया जा चुका है कि श्रीमध्व और उनके शिष्य-प्रशिष्योंके सिद्धान्तोंको लेकर ही तत्त्वसन्दर्भ, सर्वसंवादिनी आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया गया है। हम प्रसंगके अनुसार आगे इसका वर्णन करेंगे कि साधारण कुछ मतभेद ही सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं होता। बल्कि मूल उपास्य-तत्त्वके भेदसे ही सम्प्रदायका भेद होता है।

(६) कुछ लोगोंका यह भी आक्षेप है कि मध्वमतानुसार ब्राह्मण कुलमें पैदा हुए ब्राह्मणोंको ही केवल मोक्षकी प्राप्ति होती है। भक्तोंमें देवगण ही प्रधान हैं। केवल ब्रह्माका ही विष्णुके साथ सायुज्य होता है। लक्ष्मीजी जीवकोटिमें हैं। गोपियाँ स्वर्गकी अप्सराओंकी कोटिमें हैं। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके अनुगत वैष्णव आचार्योंके विचारसे मध्वमतके ये विचार शुद्धभक्तिसिद्धान्तोंके विपरीत हैं। ऐसी दशामें श्रीचैतन्यदेव मध्व सम्प्रदायको क्यों ग्रहण करेंगे अथवा उनके अनुगत गौड़ीय सम्प्रदायके आचार्यगण मध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—श्रीबलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर विपक्षकी इन सारी युक्तियोंको जयपुरकी गलता गद्दीमें खण्ड-विखण्ड कर दिया था। उन्होंने तत्त्वसन्दर्भकी टीका, गोविन्दभाष्य, सिद्धान्तरत्नम्, प्रमेयरत्नावली आदि ग्रन्थोंमें आचार्य मध्व और उनके शिष्य-प्रशिष्य विजयध्वज, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ आदि आचार्योंके सुसिद्धान्तोंको उद्धृतकर इन सारे आक्षेपोंका खण्डन किया है और श्रीगौड़ीय सम्प्रदायको मध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त प्रमाणित किया है। उन्होंने उक्त सभामें यह प्रमाणित किया है कि मध्वमतके अनुसार लक्ष्मीजी विष्णुकी प्रिय महीषि हैं, वे ज्ञानानन्दात्मक, नित्य और चिन्मय देहविशिष्ट हैं। विष्णुकी भाँति ये भी गर्भवासके दुःख आदि दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, सर्वत्र व्याप्ता हैं, श्रीविष्णुके अनन्त रूपोंके साथ श्रीलक्ष्मीजी भी अनन्त रूपोंमें विहार करती हैं। विष्णुके अवतारके समय लक्ष्मीजी भी अवतीर्ण होकर उस अवतारकी प्रियसंगिनीके रूपमें विराजमान रहती हैं तथा विष्णुकी तरह लक्ष्मीजीके भी विभिन्न नाम और रूप हैं। (श्रीमध्वकृत बृहदारण्यक भाष्य ३/५) पुनः लक्ष्मीदेवी विष्णुकी

अधीना, सर्वविद्याभिमानिनी और चतुर्मुख ब्रह्मासे भी अनेक गुण श्रेष्ठ हैं। वे विविध प्रकारके अलंकारोंके रूपमें भगवानके अंगोंमें विराजमान रहती हैं। विष्णुकी शय्या, आसन, सिंहासन, आभूषण आदि समस्त भोग्य वस्तुएँ लक्ष्म्यात्मक ही हैं। (ब्रह्मसूत्र ४/२/१ सूत्रके अणुव्याख्यानमें धृत श्रीमद्भागवत २/९/१३ श्लोक)

श्रीमध्वने कहीं भी श्रीलक्ष्मीजीको जीवकोटिमें नहीं बताया है। इसी प्रकार केवल ब्राह्मणोंको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, भक्तोंमें देवगण ही प्रधान हैं, केवल ब्रह्माका ही विष्णुके साथ सायुज्य होता है—ये भी मध्व सम्प्रदायके विचार नहीं हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने मध्व-सम्प्रदायको क्यों ग्रहण किया, श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने 'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' नामक ग्रन्थमें इस विषयका उल्लेख किया है—"श्रीजीव गोस्वामीने आप्त वाक्यकी प्रामाणिकता निश्चितकर पुराणोंकी भी प्रामाणिकता निश्चित की है। अन्तमें श्रीमद्भागवतको सर्वप्रमाणशिरोमणिके रूपमें प्रमाणित किया है। उन्होंने जिस लक्षणके द्वारा श्रीमद्भागवतको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है, उसी लक्षणके द्वारा उन्होंने ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव तदनन्तर क्रमानुसार विजयध्वज, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ आदिके तत्त्वगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा प्रमाणित शास्त्रोंका भी उल्लेख प्रामाणिक ग्रन्थोंकी कोटिमें किया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म-माध्व सम्प्रदाय ही श्रीमन्महाप्रभुके आश्रित गौड़ीय वैष्णवोंकी गुरुप्रणाली है। कविकर्णपूरने इसी मतको दृढ़ करते हुए स्वरचित गौरगणोद्देशदीपिका ग्रन्थमें गुरुपरम्पराका वर्णन किया है। वेदान्तसूत्रके भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी इसी प्रणालीको स्वीकार किया है। जो लोग इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके चरणानुगत गौड़ीय वैष्णवोंके प्रधान शत्रु हैं, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है।"

"निम्बार्क मतमें जो भेदाभेद अर्थात् द्वैताद्वैत मत है, वह अपूर्ण है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके विचारोंको ग्रहणकर वैष्णव जगतने भेदाभेद मतकी पूर्णताकी प्राप्ति की है। श्रीमध्वाचार्यके मतमें सच्चिदानन्द विग्रह स्वीकृत है, वही सच्चिदानन्द विग्रह अचिन्त्यभेदाभेदकी मूल आधारशिला होनेके कारण श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीमध्व सम्प्रदायको ही अंगीकार किया है। पूर्व वैष्णवाचार्योंके द्वारा प्रचारित दार्शनिक मतोंमें कुछ-कुछ वैज्ञानिक अपूर्णता रहनेके कारण उनमें परस्पर वैज्ञानिक भेद है। इसी वैज्ञानिक भेदके कारण

सम्प्रदाय-भेद है। साक्षात् परतत्त्व श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने अपनी सर्वज्ञताके बलसे उन सभी मतोंकी असम्पूर्णताको पूर्णकर मध्वके सच्चिदानन्द नित्य विग्रहको, रामानुजाचार्यके शक्ति-सिद्धान्तको, विष्णु स्वामीके शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा तदीय सर्वस्वत्वको और निम्बार्कके नित्य द्वैताद्वैत सिद्धान्तको निर्दोष और पूर्णकर अपना अचिन्त्य-भेदाभेदात्मक अत्यन्त विशुद्ध वैज्ञानिक मत जगतको कृपाकर प्रदान किया है।" (चै. म. की शिक्षा पृ. ११०)

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा श्रीमध्वमत स्वीकार करनेका दूसरा कारण भी है। श्रीमध्वमतमें मायावाद या केवलाद्वैतवाद, (जो भक्तितत्त्वका सर्वथा विरोधी है) का स्पष्टतः खण्डन किया गया है। तीसरी बात जब श्रीचैतन्य महाप्रभुने उडुपीमें श्रीमध्वाचार्य द्वारा प्रकाशित एवं पूजित नन्द-नन्दन नर्तक गोपालका दर्शन किया, तो उसे देखकर भावविह्वल हो उठे। उन्होंने दक्षिण भारतमें अपने भ्रमणके समय ऐसा कहीं भी नहीं देखा। इसीलिए वे भावविह्वल होकर नृत्य करने लगे। यह भी उनके मध्वानुगत होनेका प्रबल प्रमाण है। जब श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीगुणराज खाँ द्वारा लिखित 'श्रीकृष्णविजय' ग्रन्थकी एक पंक्ति—'नन्दनन्दन कृष्ण—मोर प्राणनाथ'—इस उक्तिपर उनके वंशपरम्पराके हाथों अपनेको सदाके लिए बेच दिया, फिर नन्दनन्दन नर्तक-गोपाल ही जिनके सर्वाराध्य हों, उनके शिष्य-प्रशिष्यकी परम्परामें क्यों नहीं अपनेको बेच देंगे? गौड़ीय सम्प्रदायके मध्वानुगत्यका यह भी विशेष प्रमाण है।

ब्रह्म, जीव और जगतके सम्बन्धमें श्रीमध्वके साथ गौड़ीय वैष्णवोंका कुछ-कुछ मतभेद होनेपर भी वह साधारण मतभेद सम्प्रदाय-भेदका कारण नहीं है। उपास्य-तत्त्वके भेद अथवा परतत्त्वकी उत्कर्षताके तारतम्यके आधारपर ही वैष्णवोंमें सम्प्रदाय-भेदकी सृष्टि हुई है। साध्य, साधन और साधक तत्त्वोंके विषयमें भी कुछ-कुछ तारतम्य विद्यमान रहनेपर उसे कहीं-कहीं सम्प्रदाय-तारतम्यका कारण माना जाता है। वस्तुतः परतत्त्व या उपास्य तत्त्वकी अनुभूतिका तारतम्य ही सम्प्रदाय-तारतम्यका मूल कारण है। यही कारण था कि तत्त्ववादियोंके साथ विचारमें कुछ मतभेद रहनेपर भी उसे भूलकर परतत्त्व नर्तक गोपालकी उपासनाको लक्ष्यकर ही श्रीमन्महाप्रभुने श्रीमध्वाचार्यको सम्प्रदायका मूल आचार्य स्वीकार किया।

(७) मध्व सम्प्रदायके संन्यासी तीर्थ कहलाते हैं, इसलिए पुरी उपाधिधारी श्रीमाधवेन्द्रपुरी या ईश्वरपुरी मध्व सम्प्रदायके संन्यासी नहीं हो सकते। जब

श्रीमाधवेन्द्रपुरी मध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त नहीं है, तो यह कहना भी आधारहीन है कि श्रीमन्महाप्रभुने मध्व सम्प्रदाय स्वीकार किया है।

उत्तर—वस्तुतः श्रीमाधवेन्द्रपुरीकी 'पुरी' उपाधि उनके संन्यास-ग्रहणका नाम है। श्रील माधवेन्द्रपुरीपाद श्रीमध्व सम्प्रदायके लक्ष्मीपति तीर्थके दीक्षित शिष्य थे। बादमें 'पुरी' नामधारी किसी संन्यासीसे उन्होंने संन्यास ग्रहण किया था, जैसे श्रीमन्महाप्रभुने श्रीईश्वरपुरीके निकट दीक्षा ग्रहणकर बादमें श्रीकेशवभारतीके निकट संन्यास ग्रहणकी लीला प्रकाशित की थी। दीक्षा गुरु और संन्यास गुरु एक ही व्यक्ति होंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। कहीं, हो भी सकते हैं और कहीं नहीं भी हो सकते हैं। श्रीमध्वाचार्यके जीवनमें भी ऐसा ही देखा जाता है कि पहले वे वैष्णव सम्प्रदायमें विष्णुमन्त्रसे दीक्षित थे। तदनन्तर उन्होंने अद्वैतवादी अच्युतप्रेक्षके निकट संन्यास-वेश ग्रहण किया। कुछ दिनोंके पश्चात् उन्होंने अपने संन्यास गुरु अच्युतप्रेक्षको भी अपने प्रभावसे वैष्णव मतमें प्रवेश कराया। उन्होंने संन्यासके पश्चात् भी अद्वैतवादियोंके किसी भी विचारको ग्रहण नहीं किया, बल्कि अद्वैतवादके सभी विचारोंका प्रबल रूपसे खण्डन किया तथा तत्त्ववादकी प्रतिष्ठाकर सर्वत्र ही उसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें भी ऐसा ही देखा जाता है। इसलिए मध्व सम्प्रदायके संन्यासियोंका नाम 'तीर्थ' होनेपर भी उनके सम्प्रदायके गृहस्थ या ब्रह्मचारीकी उपाधि तीर्थ नहीं होती। इसलिए अद्वैत सम्प्रदायके किसी संन्यासीसे वेश ग्रहण करने के कारण उनकी 'पुरी' उपाधि होगी, यह अयुक्तिसंगत नहीं है।

(८) श्रीमध्व सम्प्रदाय एवं श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके साध्य और साधन—दोनोंमें भेद है। इसलिए श्रीगौड़ीय सम्प्रदायको श्रीमध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता है।

उत्तर—यह कहना सर्वथा अज्ञानमूलक एवं असत्य है। मध्वमतमें सर्वत्र ही भगवत्-भक्तिको साधन माना गया है। श्रीगौड़ीय वैष्णवोंकी भाँति कनिष्ठाधिकारी साधकोंके लिए सर्वप्रथम कृष्णकर्मार्पणकी बात स्वीकृत रहनेपर भी '*भगवत्-परमप्रसाद साधना*'—शुद्धा भक्तिको ही प्रधान साधनके रूपमें स्थापित किया गया है। श्रीमध्वाचार्यने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (३/३/५३) में "*भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसि इति माठरश्रुतः*" को ग्रहणकर भक्तिकी प्रतिष्ठा की है। सूत्र (३/३/४५) में भी देखा जाता है—"*वराहे च—गुरुप्रसादो बलवान्न तस्माद्बलवत्तरम्। तथापि*

श्रवणादिश्च कर्त्तव्यो मोक्षसिद्धये।।" श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी सेवा प्राप्तिरूप मोक्षकी सिद्धिके लिए श्रीगुरुदेवकी कृपा बलवानसे भी बलवत्तर है, तथापि श्रवण-कीर्तन आदि भक्तिके अंगोंका साधन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। महाभारत-तात्पर्य-निर्णय ग्रन्थमें सर्वत्र ही भक्तिकी प्रतिष्ठा देखी जाती है—"*स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा*" (१/१०५) और "*भक्त्यैव तुष्यति हरिः प्रवणत्वमेव*" (२/५९)। स्थानाभावके कारण अधिक प्रमाण नहीं दिए गए।

इसी प्रकार मध्व-सम्प्रदायमें भगवत्प्रीति ही साध्य है। यद्यपि श्रीमन्मध्वाचार्यने कहीं-कहीं मोक्षको ही साध्य-स्वीकार किया है, किन्तु उनका वह मोक्ष निर्विशेषवादियोंका ब्रह्मनिर्वाण नहीं है—"विष्ण्वाङ्घ्रिलाभं मुक्तिं" अर्थात् विष्णुके चरणकमलोंकी सेवाकी प्राप्ति ही मोक्ष है। श्रीमध्व सम्प्रदायमें श्रीमद्भागवतोक्त मुक्तिकी परिभाषाको ग्रहण किया गया है—"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" अर्थात् मायाकृत जीवकी स्थूल और लिंग उपाधियोंमें अहं और ममकी बुद्धिसे मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूपसे भगवानकी प्रेममयी-सेवामें प्रतिष्ठित होनेका नाम मुक्ति है। अतः इनका मोक्ष भी शंकराचार्य द्वारा कथित ब्रह्मसायुज्य न होकर भगवत्-प्रीतिमूलक सेवा है। इन्होंने कहीं भी ब्रह्म और जीवकी एकात्मतारूप सायुज्यको मोक्षके रूपमें ग्रहण नहीं किया है। इन्होंने केवलाद्वैतवाद-सम्मत सायुज्य मुक्तिका सब प्रकारसे खण्डन किया है। मध्वमतमें बद्ध और मुक्त दोनों ही अवस्थाओंमें ब्रह्म और जीवमें भेद स्वीकृत होनेके कारण इन्हें भेदवादी कहा गया है—यह सर्वविदित तथ्य है—

"अभेदः सर्वरूपेषु जीवभेदः सदैव हि"

मध्वमतमें भेदका प्राधान्य परिलक्षित होनेपर भी अभेदसूचक श्रुतियोंकी कहीं भी अवज्ञा परिलक्षित नहीं होती, क्योंकि अभेदसूचक श्रुतिमन्त्रोंकी वहाँ संगति दिखलाई गई है अर्थात् प्रकारान्तर रूपसे अचिन्त्यभेदाभेद स्वीकृतिका इंगित पाया जाता है। श्रील जीवगोस्वामीने अपने सन्दर्भ-ग्रन्थमें इसे इंगित किया है।

वेदान्तसूत्रके अनुसार शक्ति और शक्तिमान्—दोनोंको अभिन्न बताया गया है—'शक्ति शक्तिमतोरभेदः'। श्रीमध्वधृत ब्रह्मतर्क वाक्यमें अचिन्त्यभेदाभेदका संकेत पाया जाता है—

विशेषस्य विशिष्टस्याप्यभेदस्तद्वदेव तु।
सर्वं चाचिन्त्यशक्तित्वाद् युज्यते परमेश्वरे।।
तच्छक्त्यैव तु जीवेषु चिद्रूपप्रकृतावपि।
भेदाभेदौ तदन्यत्र ह्युभयोरपि दर्शनात्।।

(ब्रह्मतर्क)

अतः साध्य और साधनके विषयमें भी दोनोंमें विशेष भेद नहीं है। जो कुछ भेद-सा प्रतीत होता है, वह परस्परका वैशिष्ट्य है।

तत्त्ववादियोंके उडुपीस्थित आठों मठोंके अधिपति संन्यासीगण श्रीकृष्णका भजन व्रजस्थित अष्टनायिकाओंके आनुगत्यमें गोपीभावसे करते हैं। श्रीमध्वाचार्यके चरित्र लेखक श्रीपद्मनाभाचारीने इस प्रसंगमें लिखा है—

The monks who take charge of Sri Krishna by rotation, are so many gopees of Brindavan, who moved with and loved Sri Krishna with an indiscrible intensity of feeling, and are taking rebirths now for the privilege of worshiping Him.

(Life and Teachings of Sri Madhvacharya by C.M. Padmanavachari, chapter XII, page 145)

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें भी श्रीरूप, सनातन, रघुनाथ, कृष्णदास कविराज गोस्वामी आदिने अपने ग्रन्थोंमें गोपियोंके आनुगत्यमें श्रीकृष्णकी सेवाको ही साध्यके रूपमें निर्णीत किया है।

उडुपीके प्रधान मठमें यशोदानन्दन नृत्यगोपालकी सेवा आज भी देखी जाती है। श्रील मध्वाचार्यने अपने द्वादश स्तोत्रम्‌के षष्ठ अध्यायके पञ्चम श्लोकमें अपने इष्टदेव नर्तक गोपाल श्रीकृष्णकी इस प्रकार स्तुति की है—

देवकीनन्दन नन्दकुमार वृन्दावनाञ्जन गोकुलचन्द्र।
कन्दफलाशन सुन्दररूप नन्दितगोकुलवन्दितपाद।।

इस प्रकार गौड़ीय वैष्णवोंके आदिसे अन्त तकके आचार्योंके विचारोंका विवेचन करनेसे सहज ही इस निष्कर्षपर पहुँचा जा सकता है कि श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय श्रीमध्व सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त है और यह सर्वथा युक्तिसंगत है।

(९) मध्व सम्प्रदाय भेदवादी है, किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय अचिन्त्यभेदाभेदवादी है। इस प्रकार दोनोंमें विराट् मतभेद है।

हमने पहले ही कहा है कि यद्यपि मध्व सम्प्रदायमें ब्रह्म, जीव और जगतमें पाँच प्रकारके भेद स्वीकृत हैं, फिर भी इनमें अचिन्त्य-भेदाभेदवादका

संकेत पाया जाता है। ब्रह्म, जीव और जगतके सम्बन्धमें वेदशास्त्रोंमें भेद और अभेद—दोनों प्रकारके प्रमाण पाये जाते हैं। किन्तु भेद और अभेद होनेपर भी केवल भेदकी ही प्रतीति होती है, अभेदकी नहीं। भक्तिके क्षेत्रमें साधन या सिद्ध—दोनों ही दशाओंमें उपास्य और उपासकका भेद सिद्ध है और यह भेद ही उपासनाका मेरुदण्ड है। अन्यथा उपास्य और उपासकका भेद नहीं रहनेपर उपासना सिद्ध नहीं होगी। अतः श्रीगौड़ीय और मध्व सम्प्रदायमें कुछ साधारण भेद दृष्टिगोचर होनेपर भी वह सम्प्रदाय भेदका कारण नहीं हो सकता। उपास्य—भगवान, उपासना—भक्ति और प्रयोजन—मोक्ष या भगवत्-सेवा—इन तत्त्वोंके सम्बन्धमें चारों वैष्णव सम्प्रदायके वैष्णवोंमें छोटे-मोटे मतभेद रहनेपर भी मूलतः उन्हें पार्थक्य नहीं कहा जा सकता। वे सभी सादृश्य धर्मयुक्त हैं। **उपास्य तत्त्वके भेद अथवा परतत्त्वकी उत्कर्षताके तारतम्यके आधारपर ही वैष्णवोंमें सम्प्रदाय-भेदकी सृष्टि हुई है।** साध्य, साधन और साधक तत्त्वोंके विषयमें भी तारतम्य विद्यमान रहनेपर उसे कहीं-कहीं सम्प्रदाय तारतम्यका कारण माना जाता है। **वस्तुतः परतत्त्व या उपास्य तत्त्वकी अनुभूतिका तारतम्य ही सम्प्रदाय-तारतम्यका मूल कारण है।** जिन्होंने उपास्य तत्त्वकी जितनी ही उत्कर्षता दिखलाई है, वे उतने ही श्रेष्ठ माने गए हैं।

श्रीमुरारिगुप्त महाप्रभुके अन्तरंग परिकरोंमेंसे एक हैं। मुरारिगुप्तको गौड़ीय सम्प्रदायमें हनुमानका अवतार बताया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा भगवान् श्रीरामचन्द्रकी अपेक्षा व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका माधुर्य अधिक बतलाए जानेपर भी मुरारिगुप्त कृष्णके भजनमें आकृष्ट नहीं हुए। उनके उपास्य राम थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु उनकी उपास्य निष्ठाको देखकर बड़े प्रसन्न हुए थे। वे अन्त तक श्रीरामका भजन करते रहे।

श्रीवास पण्डित भी महाप्रभुके मुख्य परिकरोंमेंसे एक हैं। श्रीकविकर्णपूरने इनको श्रीनारदका अवतार माना है। इनके उपास्य श्रीलक्ष्मी-नारायण हैं। इन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके उन्नत-उज्ज्वल रसके विपरीत लक्ष्मी-नारायणकी उपासनाको श्रेष्ठ माना है, यह सर्वविदित तथ्य है।

कुछ अनभिज्ञ और भ्रान्त व्यक्तियोंका कहना है कि श्रीजीव गोस्वामीने श्रीरूप गोस्वामीके मतानुसार व्रजगोपियोंके पारकीय रसको स्वीकार नहीं किया है, बल्कि उन्होंने स्वकीय रसका अनुमोदन किया है। इसलिए श्रीरूप गोस्वामी और जीव गोस्वामीके विचारोंमें मतभेद है।

वस्तुतः उपर्युक्त अभियोग सम्पूर्णतः निराधार और मिथ्या है। यथार्थता

तो यह है कि श्रीजीव गोस्वामीने अपने अनुगत जनोंमें से कुछ साधकोंकी रुचि स्वकीय रसकी ओर लक्ष्यकर उनका कल्याण करनेके लिए स्वकीयवादका उल्लेख किया है। उनका आन्तरिक विचार यह था कि अनधिकारी लोग अप्राकृत चमत्कारपूर्ण पारकीय व्रजरसमें प्रवेशकर कहीं व्यभिचार न कर बैठें। अतः उनको अप्राकृत व्रजरसका विरोधी मानना अपराधमय विचार है। अतः साधारण मतभेद होनेके कारण उन्हें गौड़ीय सम्प्रदायसे बहिर्भूत नहीं माना गया है।

मायावादी या केवलाद्वैतवादी सम्प्रदायके आचार्योंमें भी परस्पर मतभेद देखा जाता है। इस बातको स्वयं मायावादी लोग भी स्वीकार करते हैं। परन्तु वैसा होनेपर भी वे सभी अद्वैतवादी शांकर-सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। किसीने विवर्तवाद माना है, किसीने बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद माना है, किसीने अविच्छिन्नवाद माना है, किसीने आभासवाद माना है और एक दूसरेके मतका खण्डन किया है। फिर भी वे एक ही सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हैं।

इसी प्रकार श्रीमध्व एवं श्रीगौड़ीय सम्प्रदायमें कुछ-कुछ साधारण मतभेद होनेपर भी गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका मध्वानुगत्व मानना सर्वथा युक्तिसंगत है।

भेक–प्रणाली एवं सिद्ध–प्रणाली

कुछ दिनोंसे बंगालमें एवं व्रजके राधाकुण्ड, वृन्दावन आदि स्थानोंमें भेकधारण एवं सिद्धप्रणाली नामक प्रथाने श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं षड्गोस्वामियोंके द्वारा प्रतिष्ठित शुद्धभक्तिका स्वरूप ही विकृत कर दिया है। अधिकार–अनधिकारका विचार किए बिना ही अपना दल भारी करनेके लिए ये लोग जैसे–तैसे, व्यभिचारी, लम्पट, शास्त्रसिद्धान्तरहित लोगोंको भी सिद्धप्रणाली (?) एवं बाबाजी वेश प्रदान करते हैं। ये लोग इसका दुरुपयोगकर और भी भ्रष्ट और लम्पट हो पड़ते हैं।

(i) भेक–प्रणाली

भेकधारणकी प्रथा कब–से प्रचलित हुई है, इसका अनुसन्धान करनेपर हम पाते हैं कि षड्गोस्वामीगण, श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आदिके समय तक यह प्रथा प्रचलित नहीं थी, क्योंकि ये लोग सहज–परमहंस थे। श्रीसनातन गोस्वामीने स्वाभाविक रूपसे काशीमें तपन मिश्रसे एक पुरानी धोती लेकर उसे चीरकर बहिर्वास और डोर–कौपीनके रूपमें धारण किया था। वहाँ सिद्ध प्रणाली देने आदिका कोई उल्लेख नहीं है। वह केवल भजननिष्ठाके लिए त्याग–वेशका सूचक था। इसी प्रकार अन्य गोस्वामियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। यह एक प्रकारसे भिक्षुक आश्रम या संन्यासके ही अन्तर्गत है, क्योंकि परमहंस महात्माओंका कोई भी निश्चित वेश नहीं होता। वे संन्यास आदि आश्रमोंके लिंगों एवं विधि–निषेधोंसे अतीत होते हैं तथा भगवत्–प्रेममें सर्वदा विभोर रहते हैं। ऐसे परमहंसोंके ऊपर वेद आदि शास्त्रोंके विधि–निषेधोंका कोई अंकुश नहीं होता। किन्तु जो लोग परमहंस अवस्थामें नहीं हैं, वे साधन–भजनकी निष्ठाके लिए या तो वैष्णव–संन्यास (सत्क्रियासारदीपिका आदि सात्त्वत वैष्णव स्मृतियोंके अनुसार) ग्रहण करते हैं अथवा उसी विधिके अनुसार श्वेत

वहिर्वास और डोर-कौपीन धारण करते हैं, इसे ही भेकधारण कहते हैं। 'भेक' शब्द संस्कृत भेष शब्दका अपभ्रंश है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने 'भेक-धारण' नामक प्रबन्ध (गौड़ीय पत्रिका वर्ष ६, संख्या २ में पुनर्मुद्रित) में लिखा है—

"भेक शब्दसे भिक्षुकके आश्रमका बोध होता है। संन्यास आश्रमका ही नाम भिक्षु-आश्रम है। संन्यासी व्यक्ति इस जीवनमें कभी भी स्त्रियोंका संग नहीं कर सकते। वे भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करेंगे।

"यहाँ प्रश्न होता है कि भेकधारी वैष्णवगण कौन-से आश्रममें अवस्थित हैं? हमने जहाँ तक शास्त्र और महाप्रभुके उपदेशोंका अनुशीलन किया है, उसके द्वारा स्थिर किया है कि निःसंग वैष्णवगण भिक्षु-आश्रममें अवस्थित हैं। जब उनके लिए स्त्रीसंग सम्पूर्णतः निषिद्ध है, तब वे संन्यास आश्रममें ही अवस्थित हैं। संन्यासका चिह्न ही कौपीन है। जब उन्होंने डोर-कौपीन या बहिर्वासको धारण कर लिया है, तब वे निश्चय ही संन्यास आश्रमके अन्तर्गत हैं।

"संन्यास दो प्रकारका होता है—साधारण संन्यास और वैष्णव संन्यास। इन दोनोंमें बहुत ही पार्थक्य है। साधारण संन्यासमें शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य, सत्-असत् ज्ञान तथा ब्रह्म प्राप्तिकी आकांक्षा—इन धर्मोंका उदय होनेपर संन्यास ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैष्णव संन्यासियोंके लिए इन गुणोंका होना ही अधिकार प्रदान नहीं करता। सर्वप्रथम भगवत्-विषयणी श्रद्धा, तदनन्तर साधुसंग, भजन क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति आदि प्रक्रियाके द्वारा जब भगवत्-रति हृदयमें उदित होती है, उस अवस्थामें विरक्ति नामका एक धर्म वैष्णवका आश्रय करता है। उस दशामें वैष्णव-साधकका गृहस्थ-आश्रमसे पूर्णतः वैराग्य हो जाता है तथा वे अपने अभाव (आवश्यकता) को सीमित करनेके लिए कौपीन आदि धारणकर भिक्षा द्वारा जीवननिर्वाह करते हैं। इसीका नाम वैष्णव-भेक है। जो सरलताके सहित निष्कपट होकर भगवत्-भजनके लिए भेक धारण करते हैं, वे जगतके वन्दनीय हैं। इस प्रकारका भेक-ग्रहण दो प्रकारसे होता है। कोई-कोई साधक भावजनित विरक्ति लाभकर किसी उपयुक्त गुरुके निकट भेक ग्रहण करते हैं और कोई-कोई स्वयं ही डोर-कौपीन-बहिर्वास धारण कर विचरण करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुके सम्प्रदायमें यह भेक पद्धति अत्यन्त पवित्र है। मैं ऐसी पद्धतिको बारम्बार श्रद्धापूर्वक सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।

"किन्तु दुर्भाग्यका विषय यह है कि वर्तमान भेकाश्रम अत्यन्त दूषित हो रहा है। अधिकारका विचार सम्पूर्णतः उठ गया है। अनधिकारी होनेपर भी भेकधारणकी इच्छा हुई और मस्तक मुण्डन कराकर डोर-कौपीन धारणकर भेक ले बैठा।

"वर्तमान कालमें संन्यास प्रणालीमें कुछ विकृतियाँ आ गई हैं। वे ये हैं—

(१) कुछ गृहस्थ वैष्णव मस्तक मुण्डन कराकर एवं कौपीन धारणकर बाबाजी बन जाते हैं। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है? उनका यह कार्य लोक एवं शास्त्रविरुद्ध है। यदि संसारसे यथार्थतः विरक्ति हो, तो यथार्थ रूपमें निःसंग भेक ग्रहण करें। अन्यथा वैष्णव धर्मको ये कलंकित ही करेंगे और परलोकमें भी इसका फल भोग करेंगे।

(२) बाबाजी लोगोंका अपने आश्रमोंमें सेविकाओंको रखना भी एक भयंकर अमंगलजनक प्रथा है। किसी-किसी आश्रममें बाबाजी लोग अपने पूर्वाश्रमकी पत्नीको भी सेविकाके रूपमें रखते हैं। ये लोग देवसेवा और साधुसेवाके छलसे स्त्रीसंग करते हैं।

(३) विरक्त बाबाजी लोगोंके लिए स्त्री-लोभ, अर्थ-लोभ, खाद्य-लोभ आदि एकान्तरूपसे वर्जनीय हैं। आजकल विरक्त लोगोंमें इन दोषोंको देखकर वैष्णव जगतके प्रति जनसाधारणमें अविश्वास फैल रहा है। सार बात यह है कि भागवती रतिसे उत्पन्न यथार्थ विरक्तिके बिना जो लोग वैराग्य-लिंग धारण करते हैं, वे जगतके लिए उत्पातस्वरूप एवं वैष्णव धर्मके लिए कलंकस्वरूप हैं। अनधिकार भेकग्रहण करनेसे स्वयंका अधःपतन और वैष्णव धर्मकी अवमानना ही निश्चित है।"

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादके अप्रकट होनेके पश्चात् श्रीव्रजमण्डल, गौड़मण्डल एवं क्षेत्रमण्डलके प्रधान-प्रधान स्थानोंमें ये कुरीतियाँ प्रत्यक्ष रूपसे दृष्टिगोचर होने लगीं। श्रील प्रभुपाद एवं उनके आश्रित शुद्ध वैष्णवोंके प्रति इन अखाड़ाधारी बाबाजी लोगोंने आक्षेप करना आरम्भ कर दिया कि गौड़ीय मठके वैष्णव लोग गेरुआ वस्त्र एवं संन्यास धारण करते हैं, इनमें कोई सिद्ध प्रणाली नहीं है तथा ये लोग रसतत्त्वसे अनभिज्ञ ज्ञानी हैं। परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवने इन आक्षेपोंका शास्त्रीय प्रमाणों एवं प्रबल युक्तियोंसे खण्डन किया तथा सर्वत्र ही शुद्ध भक्तिका प्रचार किया है। इसके लिए उन्होंने श्रीगौड़ीय-पत्रिका एवं भागवत-पत्रिकामें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

और जगद्गुरु श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादके पूर्वलिखित प्रबन्धोंको पुनः प्रकाशित करवाया, सहजिया–दलन नामक एक ग्रन्थका प्रकाशन कराया, व्रजमण्डल, गौड़मण्डल एवं क्षेत्रमण्डलके बहुत–से स्थानोंकी बृहत्–बृहत् सभाओंमें इसका प्रतिवाद भी किया। इसके लिए विरोधी पक्षसे इनके ऊपर अदालतमें मान–हानिका मुकदमा भी हुआ। किन्तु अन्तमें अदालत कक्षमें ही विरोधी पक्षको इनसे क्षमा–भिक्षा करनी पड़ी।

(ii) सिद्ध–प्रणाली

आजकल ब्रजमण्डल, गौड़मण्डल एवं क्षेत्रमण्डलके विशेष–विशेष स्थानोंमें सिद्धप्रणालीका अत्यन्त दुरुपयोग हो रहा है। तत्त्वज्ञानहीन, वैधी साधनभक्तिसे अनभिज्ञ, स्त्रीके मर जानेपर घरसे प्रताड़ित व्यक्ति भी रातों–रात सिर मुण्डन कराकर एवं कौपीन धारणकर झट सिद्धप्रणाली प्राप्त कर लेते हैं। आजकल आठ आना पैसा देकर सिद्धप्रणाली सहज ही पाई जा सकती है। मन्त्र देनेके पहले ही दाम–दस्तूर हो जाता है। इन लोगोंका विचार यह है कि सिद्धप्रणाली नहीं मिलनेसे साधकोंका कल्याण नहीं होता। वैधी भक्तिके साधनकी कोई आवश्यकता नहीं। तत्त्वज्ञान एवं अनर्थनिवृत्तिकी भी कोई आवश्यकता नहीं। रागानुगा भक्तके लिए वैधीभक्तिके चक्करमें न फँसकर अनर्थनिवृत्तिसे पूर्व ही सिद्धप्रणाली प्राप्त होना आवश्यक है। इन लोगोंकी धारणा ऐसी है—जैसे फूल होनेके पहले ही पत्तेमें फल लगेंगे।

आजसे लगभग ५५ वर्ष पूर्व हमलोग परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवके साथ व्रजमण्डल परिक्रमामें आए थे। लगभग ४०० यात्रियोंके साथ परिक्रमासंघ मथुराकी बड़ी धर्मशालामें ठहरा था। उसमें गुरुदेवने एक बड़ा भंडारा किया था, जिसमें स्थानीय सभी साधु–संत एवं वैष्णवोंको आमन्त्रित किया गया था। बहुत अधिक संख्यामें भेकग्रहण करनेवाले बाबाजी भी उसमें सम्मिलित हुए थे। जब बाबाजी लोग श्रील गुरुदेवसे मिलने आए तो कुतूहलवश गुरुदेवने उनसे पूछा कि आपलोगोंके कृष्णभजनका उद्देश्य क्या है? प्रश्न सुनते ही पहले तो वे सकपका–से गए, फिर सोचकर बोले कि कृष्णभजन करनेसे हमें मुक्ति मिल जाएगी और हम कृष्णमें मिल जाएँगे। उनका उत्तर सुनकर गुरुजी बड़े दुःखी हुए। उन्होंने उनसे और भी कुछ पूछताछ की जिससे उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके आश्रमोंमें महिलाएँ भी सेवादासीके रूपमें रहती हैं। तब–से उन्होंने गौड़ीय वैष्णव समाजमें फैले इन कुरीतियोंका

संस्कार करनेका संकल्प किया। मैंने पहले ही इसे इंगित किया है। ये जीवनभर शुद्ध भक्तिके प्रचारमें व्यस्त रहनेपर भी इस विषयको भूले नहीं। इस सुधारका बहुत कुछ श्रेय इन महापुरुषको है। इस विषयमें उनके जिन विचारोंको मैंने श्रवण किया है, उसे यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

शुद्ध भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेके लिए श्रील रूपगोस्वामीने एक क्रम निर्धारित किया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति
साधकानामयं प्रेम्नः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।।

इस क्रमका उल्लंघन करनेपर भक्ति सुदूर पराहत है। इसीलिए प्रेमराज्यमें प्रवेश करनेके लिए साधनभक्तिके प्रथमांग वैधी भक्तिका अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। वैधी भक्ति कृष्णप्रेम प्राप्त करानेका साक्षात् अंग नहीं होनेपर भी रागमार्गमें प्रवेश करनेके लिए वैधी भक्तिके अंगोंका यथायोग्य पालन करनेकी आवश्यकता है। वैधीभक्ति शास्त्रीय प्रमाणोंकी सुदृढ़ भित्तिपर प्रतिष्ठित एवं प्रबल मर्यादायुक्त है। यहाँ तक कि रागानुगीय साधनभक्ति एवं वैधी भक्तिके अंगोंके पालनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं है। अन्तर है केवल आन्तरिक निष्ठामें। अतः वैधी भक्तिके साधनके अंगोंकी पूर्णरूपेण उपेक्षा नहीं की जा सकती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रयोजनतत्त्व—कृष्णप्रेमके प्रसंगमें श्रीसनातन गोस्वामीको उपदेश देते हुए कह रहे हैं—

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेई जीव 'साधुसंग' करय।।
साधुसंग हैते हय 'श्रवण-कीर्तन'।
साधनभक्त्ये हय सर्वानर्थनिवर्तन।।
अनर्थनिवृत्ति हइले भक्त्ये 'निष्ठा' हय।
निष्ठा हैते श्रवणाद्ये 'रुचि' उपजय।।
रुचि हैते भक्त्ये हय 'आसक्ति' प्रचुर।
आसक्ति हैते चित्ते जन्मे कृष्णे प्रीत्यंकुर।।
सेई 'रति' गाढ़ हैले धरे 'प्रेम'-नाम।
सेई प्रेमा—'प्रयोजन' सर्वानन्द धाम।।

(चै. च. म. २३/९-१३)

अतएव इस क्रमका उल्लंघन करनेपर भक्तिराज्यमें प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है। अतः जो लोग वैधी साधनभक्तिके अंगोंकी उपेक्षाकर इसमें प्रवेश करना चाहते हैं, वे सर्वथा शास्त्रबहिर्भूत और उच्छृंखल हैं। शुद्ध भक्तिसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने भी ऐसा ही कहा है—

विधिमार्ग रत जने स्वाधीनता रत्नदाने रागमार्गे करान प्रवेश।

साध्य वस्तुके क्रमविचारसे श्रीमतीराधाजीका कृष्णके प्रति प्रेम ही साध्यशिरोमणि है। फिर भी श्रीचैतन्य महाप्रभुने पारकीय भावयुक्त 'राधादास्य' को ही जीवोंके लिए साध्य बताया है। साध्य वस्तु प्राप्त करनेके लिए साधनकी आवश्यकता है—

'साध्यवस्तु' 'साधन' विना केह नाहि पाय।
कृपा करि कह राय पावार उपाय।।

(चै. च. म. ८/१९६)

श्रीराय रामानन्दने इसका उत्तर देते हुए कहा—

राधकृष्णेर लीला एइ गूढ़तर।
दास्य-वात्सल्यादि-भावे न हय गोचर।।
सबे एक सखीगणेर इहाँ अधिकार।
सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार।।
सखी बिना एइ लीला पुष्टि नाहि हय।
सखी लीला विस्तारिया, सखी आस्वादय।।
सखी बिना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखीभावे ये ताँरे करे अनुगति।।
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा-साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय।।

(चै. च. म. ८/२००-२०४)

अतएव गोपीभाव करि अंगीकार।
रात्रि-दिन चिन्ते राधाकृष्णेर विहार।।
सिद्धदेह चिन्ति' करे ताहाँर सेवन।
सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण।।

(चै. च. म. ८/२२७-२२८)

सारांश यह है कि राधाकृष्णकी प्रेममयी लीला अत्यन्त रहस्यपूर्ण है,

जो कि दास्य, वात्सल्य आदि भाववालोंके लिए भी अगोचर है। केवल सखियोंका ही इसमें अधिकार है। इसलिए सखियोंके आनुगत्यके बिना अन्य किसी भी साधनसे श्रीमती राधिकाका दास्य अथवा श्रीराधाकृष्ण युगलकी कुञ्जसेवा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव अन्तश्चिन्तित सिद्ध देहके द्वारा गोपीभावसे दिवा-रात्र राधाकृष्णकी लीलाओंका चिन्तन ही उक्त सर्वश्रेष्ठ साध्यको पानेका एकमात्र उपाय है। इसीलिए श्रील रूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें श्रीरागानुगा भक्तिके साधन-प्रकरणमें निर्देश दिया है—

(१) ***कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।***
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा।।

(२) ***सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।***
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।।

(३) ***श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधीभक्त्युदितानि तु।***
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः।।

श्रीलरूप गोस्वामीने रागनुगा भक्तिके दो प्रकारके साधनोंका उल्लेख किया है—

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।।

रागात्मिका भक्तिमें लोभ होनेपर रागानुगा भक्तिका अनुष्ठान दो प्रकारसे किया जाता है—साधकरूपसे अर्थात् यथावस्थित बाह्य देहके द्वारा और सिद्धरूपसे अर्थात् अपने अभिलषित कृष्ण-परिकरोंके भाव या कृष्णविषयक रति प्राप्त करनेके लिए लुब्ध होकर व्रजलोकके परिकरों—ललिता, विशाखा, श्रीरूपमञ्जरी आदि एवं उनके अनुगत श्रीरूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी आदिके अनुसार करना होता है। साधक रूपसे कायिकी सेवा श्रीरूप, सनातन आदि व्रजवासी महानुभावोंके अनुसार एवं सिद्ध रूपसे मानसी सेवा श्रीरूप मञ्जरी आदि व्रजवासियोंके अनुसार करनी होगी। श्रीचैतन्यचरितामृतमें उपर्युक्त श्लोकका तात्पर्य इस प्रकार दिया गया है—

बाह्य, अभ्यन्तर—इहार दुइ त' साधन।
'बाह्य' साधक-देहे करे श्रवण-कीर्तन।।
'मने' निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन।।

(चै. च. म. २२/१५१-१५२)

अतः रागानुगा भक्तिसाधकोंके लिए श्रवण-कीर्तन, तुलसी-सेवन, तिलकादि धारण, श्रीएकादशी-जन्माष्टमी आदि व्रतपालन आदि भावसम्बन्धी साधन सर्वथा अनुष्ठेय हैं। इसके द्वारा स्वाभीष्ट भावकी परिपुष्टि होती है, साथ-ही अपने हृदयमें सिद्धदेहकी भावनाकर व्रजमें राधाकृष्णकी सेवा भी करनी होगी। राधा-गोविन्दकी सेवाके उपयोगी गोपीदेहका नाम ही सिद्ध-देह है। भजन पूर्ण होनेपर जड़-देहके त्यागके पश्चात् जीवोंके नित्य-स्वरूपमें उसीके अनुरूप गोपीदेहकी प्राप्ति होती है। श्रील नरोत्तम ठाकुरने कहा है—

साधने भाविवे याहा सिद्धदेहे पावे ताहा
रागपथे एइ से उपाय।

साधनके समय जिस विषयकी निरन्तर भावना होती है, मृत्युके समय वही भावना प्रबल होकर चित्तको तन्मय करती है। मृत्युकालमें जिस विषयकी जैसी स्मृति होती है, उसीके अनुरूप उसकी गति भी होती है। जिस प्रकार राजर्षि भरत मृत्युकालमें हिरण (शिशुकी) चिन्तामें निमग्न होनेके कारण हिरणदेहको प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार अन्तश्चिन्तित सिद्धदेहमें निरंतर भावित युगलसेवोपयोगी देह प्राप्तिमें सन्देह ही क्या है?

सनत्कुमार संहितामें सिद्धदेहके सम्बन्धमें कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्।।

× × × × × ×

राधिकानुचरी नित्यं तत्सेवनपरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्।।

अर्थात् सदाशिव नारदजीको युगलसेवोपयोगी सिद्धदेहके विषयमें उपदेश दे रहे हैं—"नारद! अप्राकृत वृन्दावन धाममें परकीयाभिमानिनी श्रीकृष्णकी प्रियाओंके बीच तुम अपने स्वरूपकी इस प्रकार भावना करो—मैं अतिशय सुन्दर, रूपयौवनसम्पन्ना, परमानन्दमयी किशोरी हूँ। श्रीमती राधिकाकी नित्य अनुचरी हूँ। श्रीकृष्णकी परमप्रिय वल्लभा श्रीमती राधिकाको कृष्णके साथ मिलाकर उन दोनोंको सदा सुखी कराऊँगी। सदा-सर्वदा युगलसेवापरायण रहकर भी मैं कृष्णकी अपेक्षा श्रीमतीके प्रति अधिक प्रेम रखनेवाली होऊँ, इत्यादि।

अब विचारणीय यह है कि शास्त्रों एवं महाजनोंके उपदेशोंमें जिस सिद्ध-देहका वर्णन है, वह किस अवस्थाके साधकोंके लिए कहा गया है। जहाँ कहीं

भी 'सिद्धदेह' का उल्लेख हुआ है, वह रागानुगा भक्तिके प्रसंगमें दिखाया गया है। विशेषतः जिस सौभाग्यवान् साधकके हृदयमें पूर्वसंस्कार एवं आधुनिक संस्कारके द्वारा रागात्मिका भक्ति पानेका लोभ यथार्थ रूपमें उदित हो चुका है, ऐसे लोभयुक्त साधकोंके लिए ही ऐसे उपदेश दृष्टिगोचर होते हैं।

यहाँ एक और विचारणीय बात यह है कि शास्त्रप्रदत्त विवेक द्वारा किसी रसविशेषका उत्कर्ष जान लेना एक बात है और उस रसके प्रति लोभ होना अलग बात है। उस रसविशेषमें किसीका लोभ होनेपर उस साधकमें लोभके लक्षण भी दृष्टिगोचर होंगे। यह लोभ उदित होनेपर रुचिकी अवस्थासे यह रागानुगा साधनभक्ति आरम्भ होती है। इसके द्वारा यह समझना होगा कि ऐसे साधकोंके नामापराध, सेवापराध एवं अन्यान्य अनर्थ अधिकांशतः दूर हो चुके हैं तथा वह श्रील रूपगोस्वामी द्वारा उपदेशामृतमें कहे गए छह वेगोंका दमन कर चुका है, छह दोषोंसे मुक्तप्राय है, 'उत्साहात् निश्चयात्' आदि छह गुणोंसे युक्त है, तीन प्रकारके वैष्णवोंको पहचानकर उनके साथ यथोचित व्यवहारमें निपुण है, 'तन्नामरूपचरितादि ... उपदेशसारम्'—इस श्लोकके तात्पर्यमें भी प्रतिष्ठित हो गया है अर्थात् इसका यथायथ आचरण कर रहा है। इस अवस्थामें भजन करते-करते जब साधक रुचिकी अवस्थाको पारकर आसक्तिकी अवस्थामें प्रवेश करेगा, तब श्रीरूप गोस्वामी द्वारा कथित 'क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं'—इस उपदेशका आभास साधकमें परिलिक्षत होगा। दूसरी ओर आसक्तिकी अवस्थामें भावावस्थामें उदित होनेवाली रतिका आभास उदित होगा तथा उस रतिको पूर्णरूपसे उदित करानेके लिए सिद्ध देहकी भावना करते हुए भजन करेगा। भजनके द्वारा यह रत्याभास जब रतिमें परिणत होता है, तब वस्तुतः साधकको अपने स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। इसीको सिद्धदेहकी भावना अथवा वैष्णवोंका भेकग्रहण कहते हैं। जो इसे सरलताके साथ लाभ करते हैं, वे जगत्पूज्य हैं। इस प्रकार भेक ग्रहण दो प्रकारसे होता है—किसी उपयुक्त गुरुके निकटसे साधक इसे प्राप्त करता है या इस अवस्थामें वैराग्य उदित होनेपर स्वयं ग्रहण करता है। हरिदास ठाकुर, षड्गोस्वामीगण, लोकनाथ गोस्वामी आदि स्वयं भेक ग्रहण करनेके प्रमाण हैं। इसी प्रकार श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरने श्रील गौरकिशोर दास बाबाजीसे दीक्षा मन्त्र ग्रहण करनेके पश्चात् उनके अप्रकट होनेपर जो संन्यास वेश ग्रहण किया, वह शास्त्रसम्मत है। श्रीरामानुजाचार्यने भी अपने गुरु श्रील यमुनाचार्यके अप्रकट होनेके बाद स्वयं ही त्रिदण्डियतिका

वेश ग्रहण किया था।

किन्तु सिद्धदेहकी भावना गुरुकृपाके सापेक्ष है। इस अवस्थामें रसविचारमें प्रतिष्ठित स्वरूपसिद्ध गुरु या शिक्षागुरु ही साधकके सिद्धदेहका निर्देश करेंगे। अन्यथा इस क्रमका विपर्यय होनेपर साधककी सिद्धि नहीं होती, बल्कि उसकी भक्ति भी नष्ट हो जाती है और साम्प्रदायिक विचारधारा भी दूषित हो जाती है, जो आजकल सर्वत्र परिलक्षित हो रही है।

कुछ अनभिज्ञ लोगोंका यह कहना है कि गौड़ीय मठमें सिद्धप्रणाली नहीं है—यह सर्वथा दुष्प्रचार एवं भ्रमपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एवं बलदेव विद्याभूषणके पश्चात् श्रीमहाप्रभुके अनुगत गौड़ीय सम्प्रदायमें एक अन्धकार युगका आरम्भ हुआ, जिसमें श्रीरूपानुग भक्तिधारा कुछ विकृत हुई। इसमें तरह-तरहकी काल्पनिक कुरीतियों एवं शुद्धभक्तिविरुद्ध विचारोंका सम्मिश्रण हो गया। उस समय ऐसी विषम परिस्थिति हुई कि उनके असदाचारोंको देखकर सभ्य समाज गौड़ीय वैष्णवमात्रके नामसे ही घृणा करने लगा। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय शिक्षित, सम्भ्रान्त समाजसे एक प्रकारसे अलग-थलग हो गया। उसी समय सप्तम गोस्वामी सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर एवं श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीका आविर्भाव हुआ।

इन दोनोंने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर सम्प्रदायको खोया हुआ गौरव प्रदान किया। आज केवल भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्वमें शिक्षित-सम्भ्रान्त समाजमें श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा आचरित एवं प्रचारित नामसंकीर्त्तन एवं शुद्धभक्तिका जो प्रचार एवं प्रसार हुआ है, उसका सारा श्रेय इन दोनों महापुरुषों एवं इनके अनुगत जनोंको ही है। इन्होंने विश्वमें सर्वत्र शुद्धभक्ति प्रचारकेन्द्र—गौड़ीय मठकी स्थापनाकर, विश्वकी सभी श्रेष्ठ भाषाओंमें पत्र-पत्रिकाएँ एवं शुद्धभक्तिग्रन्थोंका प्रकाशनकर अल्प समयमें ही गौड़ीय वैष्णव समाजमें क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया है।

हमने पहले ही यह बताया है कि कुछ लोगोंका यह विचार कि गौड़ीय मठमें सिद्धप्रणाली नहीं है, भ्रम है। श्रील गोपाल भट्ट गोस्वामी कृत श्रीहरिभक्तिविलासके परिशिष्ट ग्रन्थ सत्क्रियासार-दीपिका एवं संस्कार-दीपिका नामक प्रामाणिक ग्रन्थमें त्रिदण्डसंन्यास-संस्कारका उल्लेख है। जयपुरके राजकीय ग्रन्थागारमें श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा लिखित हस्तलिपि आज भी संरक्षित है। इसीकी एक प्राचीन प्रतिलिपि श्रीराधारमणके गोस्वामियोंके पास अभी भी संरक्षित है। इसलिए यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसी

संस्कार-दीपिकाके अनुसार गौड़ीय वैष्णवोंमें त्रिदण्डियतिवेश दिया जाता है। इस संन्यास-संस्कारमें डोर-कौपीन, बहिर्वास एवं गोपीभावाश्रित संन्यासमन्त्र भी प्रदान किया जाता है। यह इस गोपीभावके अन्तर्गत सम्बन्ध, वयः, नाम, रूप, यूथ, वेश, आज्ञा, वास, सेवा, पराकाष्ठाश्वास एवं पाल्यदासी भाव—ये एकादश पर्व अन्तर्निहित हैं। श्रीगुरुके उपदेशके द्वारा साधकोंकी रुचिके अनुसार ही सिद्धदेहका परिचय निर्णीत होता है। गुरु-प्रदत्त अपना नाम, रूप, वयस, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, पराकाष्ठाश्वास, पाल्यदासीका भाव ही सिद्धप्रणाली है। इस प्रकार साधन करते-करते साधकके हृदयमें शुद्धरतिके साथ-साथ स्वरूपकी भी सिद्धि होती है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने अपने सिद्धस्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है—

वरणे तड़ित् वास तारावली कमल मञ्जरी नाम।
साढ़े वार वर्ष वयस सतत स्वानन्द सुखद धाम।।१।।
कर्पूर सेवा ललितार गण राधा यूथेश्वरी हन।
ममेश्वरी-नाथ श्रीनन्दनन्दन आमार पराण धन।।२।।
श्रीरूप मञ्जरी प्रभृतिर सम युगल सेवाय आश।
अवश्य सेरूप सेवा पाव आमि पराकाष्ठा सुविश्वास।।३।।
कबे वा ए दासी संसिद्धि लभिवे राधाकुण्डे वास करि'।
राधाकृष्ण-सेवा सतत करिवे पूर्व स्मृति परिहरि।।४।।

बाबाजी लोगोंमें भी जो भेक-ग्रहणकी प्रथा देखी जाती है, वह कोई पञ्चम आश्रम नहीं, बल्कि चतुर्थाश्रम—संन्यास आश्रमका ही अपर स्वरूप है।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीका स्थान श्रीचैतन्य महाप्रभुके पार्षदोंमें अग्रणी है। आप दक्षिण देशके निवासी थे। श्रीगौरांग महाप्रभु जब संन्यास ग्रहणकर दक्षिण भारत भ्रमणको गए, तब चातुर्मास्यका समय उन्होंने श्रीरंगम्‌में एक श्रीसम्प्रदायके वैष्णवके यहाँ बिताया, जिनका नाम था—व्येंकट भट्ट। ये व्येंकट भट्ट और कोई नहीं, षड्‌गोस्वामियोंमें अन्यतम श्रीगोपाल भट्टके पिता थे। श्रीपाद प्रबोधानन्द इन व्येंकट भट्टके ही कनिष्ठ भ्राता थे। श्रीव्येंकट भट्टके अग्रजका नाम श्रीत्रिमल्ल भट्ट था। श्रीपाद प्रबोधानन्द पहले 'श्री'सम्प्रदायके रामानुजीय संन्यासी थे तथा 'श्री'सम्प्रदायमें आचार्यके समान थे। ये तीनों ही भाई सदाचारसम्पन्न और शास्त्रज्ञ ब्राह्मण थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु जव चातुर्मास्यका काल इनके गृहमें व्यतीत कर रहे थे, तो अमृतमयी हरिकथाकी वर्षा भी कर रहे थे। तीनों ही भ्राता इन्हें अपनी आखोंकी पुतली मानते थे। इनकी प्रीति इतनी प्रगाढ़ हो गई कि श्रीमन्महाप्रभुके बिना इनका प्राण धारण करना भी असम्भव-सा हो गया—

केह कहे प्रबोधानन्देर गुण अति। सर्वत्र हइल जार ख्याति सरस्वती।।
पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्। ताँर प्रिय, ताँहा बिना स्वप्ने नाहि आन।।

अर्थात् कुछ लोग कहते हैं, श्रीप्रबोधानन्द अत्यन्त ही गुणवान् व्यक्ति थे, जिनकी ख्याति सरस्वती यतिके रुपमें हुई। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु पूर्णब्रह्म भगवान् हैं। ये उनके प्रिय थे। महाप्रभुके बिना ये स्वप्नेमें भी कुछ और नहीं जानते थे।

भट्ट परिवार श्रीसम्प्रदायी वैष्णव होनेके कारण लक्ष्मी-नारायणके उपासक थे। किन्तु उन चार मासोंमें श्रीमहाप्रभुने ऐसी कृष्ण-कथा कही तथा कौतुकके

छलसे श्रीकृष्णके असमोर्द्ध्व माधुर्यका इस प्रकार वर्णन किया कि तीनों ही भाईयोंका मन श्रीकृष्णके चरणोंमें आकृष्ट हो गया। श्रीचैतन्यचरितामृतके मध्यलीला अष्टम परिच्छेदमें इसका अत्यन्त सरस वर्णन हुआ है।

चातुर्मास्य काल बीत जाने पर जब महाप्रभु श्रीरंगम्से जानेको प्रस्तुत हुए, तो इन तीनों भाइयोंकी क्या दशा हुई, इसका वर्णन अक्षरोंके द्वारा सम्भव नहीं। तथापि श्रीमहाप्रभु इनलोगोंको प्रबोध देकर आगे चले गए। इसके कुछ समय पश्चात् प्रबोधानन्द सरस्वती श्रीरंगम्से वृन्दावन आ गये। किन्तु वृन्दावन आनेके पूर्व इन्होंने अपने भ्रातुष्पुत्र (भतीजा), श्रीव्येंकट भट्टके आत्मज श्रीगोपाल भट्टको समस्त शास्त्रोंकी शिक्षा देकर वेदादिमें पारंगत कर दिया।

वृन्दावन आने पर इनका मिलन श्रीरूप-सनातनसे हुआ। महाप्रभुकी कृपासे आप अत्यन्त शीघ्र राधाकृष्णकी उन्नतोज्ज्वलरसमयी उपासनामें अभिनिविष्ट हो गए। ब्रजमें आपने काम्यवनके अन्तर्गत लुकलुकी कुण्डके निकट ही अपने जीवनका अधिकांश समय व्यतीत किया। आपका समाधि वृन्दावनमें कालियह्रदके समीप वर्तमान है।

श्रीगौरगणोद्देश दीपिकाके अनुसार आप व्रजलीलाकी तुंगविद्या सखी हैं; यथा—

तुंगविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्रविशारदा।
सा प्रबोधानन्दयतिगौरोद्गानसरस्वती।।

(गौ. ग. १६३)

अर्थात् जो ब्रजमें सभी शास्त्रविद्याओं प्रवीण तुंगविद्या सखी थीं, वे ही अभी गौरलीलामें प्रबोधानन्द सरस्वती नामक यति हुए हैं।

प्रबोधानन्दके शिष्यके रूपमें षड्गोस्वामियोंमें अन्यतम श्रीगोपालभट्टकी ही ख्याति है, जिसका श्रीगोपाल भट्टने श्रीहरिभक्ति विलासमें स्वयं वर्णन किया है—

भक्तेर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्य भगवत्प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषयन् रूपसनातनौ च।।

(श्रीहरिभक्तिविलास १/२)

अर्थात् श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी तथा श्रीरघुनथदास गोस्वामीकी संतुष्टिके लिए भगवत्प्रिय प्रबोधानन्दका शिष्य गोपालभट्ट भक्तिके विलाससमूहका चयन कर रहा है।

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद अद्वितीय अप्राकृत कवि थे। इनके काव्योंकी सरसता तथा मधुरता अनुपम है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थसमूह निम्नलिखत हैं—

(१) श्रीवृन्दावनशतकम्, (२) श्रीनवद्वीपशतकम्, (३) श्रीराधारससुधानिधि, (४) श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, (५) संगीतमाधव, (६) आश्चर्यरासप्रबन्ध, (७)श्रुतिस्तुतिव्याख्या, (८) कामबीज-कामगायत्रीव्याख्या, (९) श्रीगीतगोविन्दटीका, तथा (१०) विवेकशतक—इस ग्रन्थके विष्यमें प्रभुपाद श्रीसरस्वती गोस्वामी ठाकुरने यह निर्देश दिया है कि अध्यापक अफ्रतेरकी ग्रन्थ तालिकामें इसका नाम है तथा वरहमपुर निवासी परलोकगत रामदास सेन महाशयने इस ग्रन्थको देखा है।

श्रीप्रबोधानन्द और प्रकाशानन्द

आजकल गौड़ीय सम्प्रदायके अन्दर तथा बाहरके गवेषकोंके बीच एक अत्यन्त भ्रान्त धारणाका प्रचलन हो गया है कि काशीमें जिस मायावादी संन्यासी प्रकाशनन्द सरस्वतीसे श्रीचैतन्य महाप्रभुका विचार-विर्मश हुआ था, वे तथा भगवत्पार्षदप्रवर श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती एक ही व्यक्ति हैं। इस प्रवादका जन्म कब और कैसे आरम्भ हुआ, कहना कठिन है। क्योंकि जितने भी प्रामाणिक गौड़ीय ग्रन्थ हैं, यथा श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीचैतन्यभागवत, श्रीचैतन्यमंगल, श्रीभक्तिरत्नाकर आदि, उनमें इस प्रवादकी गन्ध भी नहीं हैं। एक इतनी बड़ी ऐतिहासिक घटना और इसका वर्णन तत्कालीन किसी भी गौड़ीय ग्रन्थमें न होना ही इस बातका परिचायक है कि दोनों व्यक्तियोंके एक होनेकी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। दोनों व्यक्तियोंका चरित्र तो इन ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र उपलब्ध है, परन्तु इन दानोंके एक होनेकी बात महाप्रभुके किसी भी परिकर द्वारा स्वीकृत नहीं है। संस्कृत ग्रन्थोंमें स्वयं श्रीपाद प्रबोधानन्द द्वारा रचित श्रीराधारससुधानिधिके एक श्लोकके आधारपर ये लोग ऐसा प्रलाप करते हैं, जिसकी मीमांसा हम आगे करेंगे।

सर्वप्रथम यहाँ जगद्गुरु श्रीलप्रभुपाद द्वारा श्रीचैतन्यभागवत (मध्य, ३/३६) के गौड़ीय भाष्यमें जो इस विषयके सम्बन्धमें लिखा गया है, उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"कोई-कोई अनभिज्ञतावश कारण इस प्रकाशानन्द तथा कावेरीप्रवासी व्येंकट भट्टके अनुज श्रीप्रबोधानन्दको एक मानते हैं। भक्तमाल नामक सहजिया ग्रन्थमें इस प्रकारका दोष प्रवेश करनेके कारण वर्तमान समय

तकके लेखकोंमें भी यह भ्रम-दोष कामोवेश प्रवेश किया है।"

श्रीआशुतोष देव द्वारा लिखित 'नूतन बाङ्ला अभिधान'में भी श्रीप्रबोधानन्दके विषयमें इस प्रकार लिखा गया है—"वे वैष्णव दार्शनिक थे। उनका वास्तविक नाम प्रकाशानन्द सरस्वती था। चैतन्यदेवने उनको प्रबोधानन्द नाम दिया।"

श्रीहरिदास दास द्वारा गौड़ीय वैष्णव अभिधानमें भी श्रीप्रबोधानन्दके विषयमें निम्नलिखित मन्तव्य व्यक्त किया गया है—"मतान्तरसे प्रकाशानन्दका ही वैष्णव नाम हुआ है प्रबोधानन्द ....एवं सुधानिधिके अन्तिम श्लोकस्थ 'मायावादार्कतापसन्तप्त' इसके द्वारा यही जाना जाता है कि ये पहले मायावादी संन्यासी थे।"

श्रीवृन्दावनस्थ हरिनाम संकीर्तन मण्डल द्वारा प्रकाशित श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थके सम्पादक तथा अनुवादक श्रीश्यामदासजीने ग्रन्थकी भूमिका लिखते हुए 'दो शब्द'के अन्तर्गत ग्रन्थकारके विषय जो कुछ लिखा है, उसका कुछ भाग उद्धृत किया जा रहा है—

"श्रीमन्महाप्रभुने सरस्वती पादको उठाकर आलिंगन किया और प्रेम-भक्तिके समस्त तत्त्वोंकी गम्भीर शिक्षा प्रदानकर उनके जीवनमें मायावादकी नीरस शुष्क मरीचिकाका अन्त कर दिया, इन्हें नाम दिया प्रबोधानन्द ★ ★ ★ ★ ★।"

"श्रीचैतन्यचन्द्रकी उस उज्ज्वलतम ज्योत्स्नासे झरती हुई असंख्य अमृत धाराओंमें सराबोर होकर काशीमें ही इस श्रीगौर-निष्ठा प्रधान श्रीचैतन्यचन्द्रामृत की उन्होंने रचना की। वह समय था लगभग संवत् १५६० का।"

"श्रीगौरांग-कृपा प्राप्तकर श्रीसरस्वती पादको काशी गांसीकी तरह हृदयमें चुभने लगी। श्रीमहाप्रभुके नीलाचल जानेके बाद वे संवत् १५७०-७१ में श्रीवृन्दावनमें चले आये। श्रीवृन्दावनमें आते ही श्रीवृन्दावनकी श्रुति-ब्रह्मा शिवादि वन्दित पावन रजमें अभिषिक्त होने लगे। श्रीगौर निष्ठा-कृपाके फलस्वरूप श्रीसरस्वतीपादके हृदय पटल पर श्रीवृन्दावन-धामकी अद्भुत महिमा-छवि श्रीधामका चिन्मय सौन्दर्य-माधुर्य स्फुरित हो उठा।"

इस प्रकार अनेक लोगोंने श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपादके सम्बन्धमें भ्रान्त धारणाओंको जन्म दिया है। इस विषयकी विस्तृत आलोचना इस प्रबन्धमें आगे की जायेगी।

अभी पहले श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादने श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थमें

'ग्रन्थकारका परिचय' शीर्षकके अन्तर्गत श्रीप्रबोधानन्दपादके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसे पूर्णतः यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"१४३३ शकाब्दके प्रारम्भमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने दाक्षिणात्य तीर्थोंके पर्यटनके छलसे भक्तोंके ऊपर कृपाका वितरण किया। उत्कल प्रदेशके नीलाद्रिसे आरम्भ कर पहले गोदावरी-संगम और बादमें वर्तमान मद्रास (चेन्नई) प्रदेशके अनेक तीर्थमें भ्रमण किया। आषाढ़ी शुक्ला एकादशी तिथिमें श्रीमन्महाप्रभु श्रीरंगक्षेत्रमें उपस्थित हुए। चातुर्मास्यका समय आ गया है, यह देखकर भगवान् श्रीचैतन्यचन्द्रने श्रीरंगनाथक्षेत्रमें चार मास वास करनेका संकल्प किया। वहाँ श्री-सम्प्रदायी वैष्णवोंका वास है। दक्षिण देशीय गाँवोंमें जहाँ पारमार्थिक वैष्णवोंका वास है, स्मार्त विप्रगण वहाँ वास करनेमें अत्यन्त असुविधा अनुभव करते हैं। श्रीरंग उस समय केवल 'श्री'वैष्णव सेवित तीर्थ था। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुने विष्णु-भक्त्याश्रित सदाचार-समपन्न वैष्णवोंके निकट चार मास व्यतीतकर श्रीरंगनाथके दर्शन और कृष्णकथाके प्रचार द्वारा जीवोंको उपदेश दिया था। उस समय 'तिरुमलय', 'व्येंकट' और 'गोपाल-गुरु' नामक तीन भ्राता महीशूर (मैसूर) प्रदेशसे आकर श्रीरंगमें वास कर रहे थे। वस्तुतः ये लोग आन्ध्र या उत्तर प्रदेशके अधिवासी थे। इस विप्रवंशके प्रति नितान्त प्रसन्न होकर श्रीमन्महाप्रभुने उनके घर पर चार मास व्यतीत किया। इस मध्यम भ्राता (मझँले भाई) व्येंकटके पुत्र थे षड्गोस्वामियोंमें अन्यतम श्रीगोपालभट्ट, जो उस समय पौगण्ड अवस्थाके थे।

"श्री-सम्प्रदायी वैष्णवगण श्रीलक्ष्मीनारायणके उपासनाप्रिय होते हैं। श्रीमन्महाप्रभुके आन्तरिक दया-गुणके द्वारा यह भट्ट परिवार कृष्णरसप्राप्तिमें निपुण हो गया। तिरुमलयके सम्बन्धमें अधिक जानकारी नहीं रहनेपर भी यह तो समझा ही जा सकता है कि वे भी चैतन्यगतप्राण थे। श्रीव्येंकटके साथ श्रीकृष्णचैतन्यदेवका कथोपकथन श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें मध्यलीलाके नवम परिच्छेदमें उल्लिखित है। श्रीप्रबोधानन्दकी श्रीचैतन्यानुरक्ति अतुलनीय थी। श्रीप्रबोधानन्दकी सत्शिक्षाके प्रभावसे श्रीव्येंकटके पुत्र श्रीगोपालभट्टने श्रीगौड़ीय वैष्णवोंका आचार्यत्व प्राप्त किया है। श्रीचैतन्यदासोंमें श्रीप्रबोधानन्दका स्थान अत्यन्त उच्च है। श्रीकविकर्णपूरने अपने द्वारा रचित 'श्रीगौरगणोद्देशदीपिका'में श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीको कृष्णलीलाकी 'तुंगविद्या' सखीके रूपमें प्रचारित किया है। श्रीहरिभक्तिविलासके प्रारम्भमें लिखा गया है कि श्रीभगवत्प्रिय श्रीलप्रबोधानन्दके शिष्य गोपालभट्टने श्रीरूप, श्रीसनातन

एवं श्रीरघुनाथदासका सन्तोष साधन करते हुए श्रीहरिभक्तिविलासकी रचना की है। भक्तिरत्नाकरमें भी लिखा गया है—

केह कहे प्रबोधानन्देर गुण अति। सर्वत्र हइल जार ख्याति सरस्वती।।
पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्। ताँर प्रिय ताँहा बिना स्वप्ने नाहि आन।।
परम वैराग्य-स्नेह मूर्ति मनोरम। महाकवि, गीत-वाद्य-नृत्ये अनुपम।।
याँहार वाक्य शुनि सुख बाड़ये सबार। प्रबोधानन्देर महामहिमा अपार।।
(भ. र. १/१४९,१५०,१५२,१५३)

[अर्थात् कोई कोई कहते हैं कि श्रीप्रबोधानन्द अत्यन्त गुणी व्यक्ति थे, जिनकी ख्याति सर्वत्र ही 'सरस्वती' के रूपमें हुई। भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य पूर्ण ब्रह्म हैं। ये श्रीकृष्णचैतन्य उनके अत्यन्त प्रिय थे तथा इनके अतिरिक्त वे (प्रबोधानन्द) स्वप्नमें भी किसी औरको नहीं जानते थे। वे परम वैराग्यवान् तथा स्नेहमयी मूर्तिवाले थे। वे महाकवि थे एवं गीत, नृत्य तथा वाद्यके विषयमें अनुपम थे। जिनकी बातें सुनकर सबके आनन्दकी वृद्धि होती थी, उन श्रीप्रबोधानन्दकी महिमा अपार है।]

"श्रीमन्महाप्रभु जब (दक्षिणसे) लौटकर नीलाचल आये, उसके कुछ वर्षोंके अन्दर ही श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती श्रीकृष्णचैतन्यके हृदयगत उपासनामें प्रगाढ़ रूपसे प्रविष्ट हुए। वे श्रीरंगम्‌का परित्यागकर अभीष्ट भजनका संकल्प लेकर श्रीगौरचरणाश्रयमें कालविलम्ब नहीं कर माथुर मण्डलमें आकर काम्यवनमें रहने लगे। श्रीगोपालभट्टकी भी व्रजधामकी लालसा क्रमशः बढ़ी और इन्होंने भी पितृव्य (चाचा) के चरणोंका अनुसरण किया।

"बहुत लोगोंके हृदयमें ऐसा प्रश्न उदित होता है कि श्रीगौरांगके इतने प्रिय होने पर भी श्रीश्रीगौरभक्त पाठकोंकी प्रीतिके लिए श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभुने प्रबोधानन्दकी महिमाका विवरण लिपिबद्ध क्यों नहीं किया? इसके उत्तरमें यही जान पड़ता है कि भक्तिरत्नाकरकी लेखिनी ही (इसके समाधानके लिए) काफी है। ग्रन्थकार श्रीघनश्याम दास या श्रीनरहरि चक्रवर्ती कहते हैं—

श्रीगोपालभट्टेर ए सब विवरण। केह किछु वर्णे, केह ना करे वर्णन।।
ना बुझिया मर्म इथे कुतर्क जे करे। अपराध-बीज तार हृदये सञ्चारे।।
परम-रसिक पूर्व पूर्व कविगण। वर्णिते समर्थ हइया न करे वर्णन।।
राखिलेन मध्ये-मध्ये वर्णन करिते। वर्णिबे जे कविगण ताँहार निमित्ते।।
श्रीगोपालभट्ट हृष्ट हइया आज्ञा दिला। ग्रन्थे निज-प्रसंग वर्णिते निषेधिला।।

केन निषेधिला–इहा के बुझिते पारे। निरन्तर अतिदीन माने आपनारे।।
कविराज ताँर आज्ञा नारे लङ्घिबारे। नाममात्र लिखे अन्य ना करे प्रचारे।।

(भ. र. १/२०९–२११,२१६,२२२–२२४)

[गोपालभट्टके उपरोक्त गुणोंका वर्णन किसीने थोड़ा किया और किसीने नहीं किया। इसका मर्म नहीं जानकर जो लोग कुतर्क करते हैं, उनके हृदयमें अपराध–बीजका संचार होता है। परम रसिक पूर्व–पूर्व कवियोंने सक्षम होने पर भी इसका वर्णन नहीं किया। (२०९–२११)

श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामीने उन लीलाओंका विस्तार किया, जिनका वर्णन श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने नहीं किया। किन्तु उन्होंने भी कुछ लीलाओंका वर्णन परवर्तीकालमें होने वाले कवियोंके द्वारा वर्णित होनेके लिए रख छोड़ा। (२१६)

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने अनेक वैष्णवोंसे आज्ञा प्राप्तकर महाहृष्ट होकर श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें महाप्रभु और उनके भक्तोंके चरित्रका वर्णन किया। श्रीगोपालभट्टने भी हृष्ट होकर श्रीकविराज गोस्वामीको ग्रन्थकी रचनाकी आज्ञा दी, किन्तु उसमें अपने प्रसंगका वर्णन करनेके लिए निषेध किया। उन्होंने क्यों निषेध किया—यह कौन समझ सकता है? वे अपनेको निरन्तर अति दीन–हीन मानते थे। श्रीकविराज गोस्वामीने भी उनकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया। केवल उनके नाम भरका उल्लेख किया, उनके अन्य चरित्रका प्रचार नहीं किया। (२२३–२२४)]

(ध्यातव्य यह है कि श्रीप्रबोधान्द सरस्वतीका चरित्र श्रीगोपालभट्टके चरित्रके प्रसंगमें आया है। ग्रन्थकार श्रीसरस्वतीपादके चरित्र वर्णनमें प्रवृत्त नहीं हुए थे। अतएव अतिरञ्जकताका दोष भी यहाँ नहीं मढ़ा जा सकता)

"कोई कोई कहते हैं कि श्रीप्रबोधानन्द द्वारा लिखित वाक्योंमें स्वकीयावादकी पुष्टि देखी जाती है, इसीलिए रूपानुग गौरभक्त पारकीय भजनका उत्कर्ष देखकर श्रीसरस्वती गोस्वामी प्रभुके ग्रन्थोंका अनुशीलन अधिक आदरपूर्वक नहीं करते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। श्रीनरहरिदासके समान निरपेक्ष श्रीचैतन्यचरणाश्रित भक्तमात्र ही भाग्यवान हैं। अतएव उनकी ही भाँति सभी लोग कुतर्क छोड़कर श्रीप्रबोधानन्दका विमल आनुगत्य करें और श्रीवृन्दावनेश्वरीकी पारकीय दास्यमाधुरीका आसवादन करें।

"श्रीप्रबोधानन्दके भावसमूह परम परिस्फुट हैं; (उनकी रचनाओंमें) भाषाकी गम्भीरता और मधुरताकी युगपत् स्थिति देखी जाती है। श्रीचैतन्यचरणाश्रित

सभी वैष्णव प्रबोधानन्दके 'श्रीवृन्दावनशतक'का नित्य पाठकर अनुपम प्रीति लाभ करते हैं। उनके द्वारा रचित 'श्रीनवद्वीपशतक' ग्रन्थ भी 'श्रीवृन्दावनशतक' की भाँति है। वास्तवमें ही श्रीप्रबोधानन्दका 'श्रीराधारसुधानिधि' काव्य ग्रन्थ अतुलनीय है। साधारण काव्यप्रिय पाठकोंको इस ग्रन्थका पाठ करनेसे वैसी (साधारण काव्य जैसी) सुखानुभूति नहीं होनेपर भी यह ग्रन्थ श्रीहरिरसस्निग्ध निष्कपट भक्तोंके लिए अत्यन्त प्रिय है। रुचिके तारतम्यसे उत्कर्षकी ह्रास-वृद्धि होती है, इसलिए पाठककी सुकृतिके ऊपर लोकातीत अप्राकृत व्रजरसमूलक ये भावसमूह कार्य करेंगे। 'विवेकशतक' नामक उनका एक ग्रन्थ है। अध्यापक अफ्रेतेरके ग्रन्थमें इसका उल्लेख देखा जाता है एवं वहरमपुरवासी परलोकगत रामदास सेन महाशयने इस ग्रन्थको देखा है।

"श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थ बंगाल देशमें बहुत प्रचारित हुआ है। श्रीगौरांगके विरोधीगण भी इस ग्रन्थका पाठकर अपने-अपने चित्तकी निर्मलताकी उपलब्धि करेंगे। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि श्रीगौरांगके अनुगतगण भी इसका पाठकर परमानन्द पूर्वक अनिर्वचनीय सुखसागरमें निमग्न होंगे। चार मास तक जिनके सेव्य-विषय होकर श्रीगोलोकपतिने दुर्लभ कृष्णप्रेम प्रदान किया है, क्षुद्र जीवमण्डली उनके अक्षय, अमूल्य द्रव्य-भण्डारका कुछ अंश लाभ करनेकी अवश्य ही प्रत्याशा रखता है।

"कोई कोई मायवादी काशीवासी प्रकाशानन्दके साथ वैष्णवाग्रगण्य प्रबोधानन्दकी एकता स्थापित करनेका प्रयास करते हैं। किन्तु हमलोग किसी भी प्रकार उनकी बातोंपर विश्वास नहीं कर सके। क्योंकि प्रकाशानन्द नामक मायावादी काशीवासी संन्यासीके सम्बन्धमें श्रीचैतन्यभागवतके मध्यखण्ड तृतीय अध्यायमें इस प्रकार लिखा गया है—

एइ रूपे नवद्वीपे प्रभु विश्वम्भर। भक्तिसुखे भासे लइ' सर्व अनुचर।।
एकदिन वराह भावेर श्लोक शुनि। गर्जिया मुरारी-घरे चलिला आपनि।।
गुप्तवाक्ये तुष्ट हइ वराह-ईश्वर। वेदप्रति क्रोध करि बलये उत्तर।।
हस्त पाद मुख मोर नाहिक लोचन। वेदे मोर एइमत करे विडम्बन।।
काशीते पड़ाय बेटा 'प्रकाश-आनन्द'। सेइ बेटा करे मोर अङ्ग खण्ड खण्ड।।
बाखानये वेद, मोर विग्रह न माने। सर्वांगे हइल कुष्ठ तबु नाहि जाने।।
सर्वयज्ञमय मोर ये अङ्ग पवित्र। अज भव आदि गाय यौँहार चरित्र।।
पुण्य पवित्रता पाय ये-अङ्ग-परशे। ताहा 'मिथ्या' बले बेटा केमन साहसे।।

[अर्थात् प्रभु विश्वम्भर अपने अनुचरोंके साथ नवद्वीपमें इस प्रकार

भक्तिसुखमें निमग्न हैं। एक दिन वराहदेव सम्बन्धी श्लोक सुनकर वे गरजते हुए मुरारिगुप्तके घरकी ओर चले। मुरारि गुप्तके [स्तुति] वाक्योंसे वराह-ईश्वर तुष्ट हुए और वेदके प्रति क्रोध प्रकाशित करते हुए कहने लगे—मेरे हाथ-पैर नहीं हैं, मेरा मुख नहीं हैं, वेदमें मेरी इस प्रकार विडम्बना [वञ्चना] करता है। काशीमें बेटा प्रकाश-आनन्द अध्यापन करता है और वह मेरे अंगोंको खण्ड-खण्ड करता है। वह वेदकी व्याख्या करता तो है, किन्तु मेरा विग्रह स्वीकार नहीं करता है। इसलिए उसके सभी अंगोंमें कुष्ठ हो गया, तो भी इसे नहीं जान पाया कि विग्रहके प्रति अपराध करनेके कारण ही उसे कुष्ठ हुआ है। सर्वयज्ञमय मेरा जो पवित्र अंग है, ब्रह्मा, शिवादि भी जिस विग्रहके चरित्रका गान करते हैं, उस विग्रहको वह मिथ्या कहनेका साहस किस प्रकार करता है?]

"यह घटना १४२५ शकाब्द और १४३० शकाब्दके बीच संघटित हुई। श्रीमन्महाप्रभु १४३३ शकाब्दमें श्रीरंगम्में शुभागमनकर तीनों भाईयोमेंसे श्रीप्रबोधानन्दसे भी मिले थे। उस समय वे लोग श्री-सम्प्रदायके रामानुजीय वैष्णव थे। अतएव विशिष्टाद्वैतवादी नित्य श्रीनारायण विग्रहके सेवक थे। दूसरी ओर ठीक उसी समय काशीमें प्रसिद्ध अद्वैतवादी प्रकाशानन्द सरस्वती अपने बहुतसे शिष्योंके साथ शंकराचार्य-कल्पित मायावाद या निर्विशेषवाद या अद्वैतवादका प्रचार कर रहा था। इन दोनों व्यक्तियोको एक करने की चेष्टा या साम्यप्रयास केवल वातुलता [पागलपन] है।

"श्रीचैतन्य भागवतके मध्यखण्ड २०वें अध्यायमें भी प्रकाशानन्दके सम्बन्धमें इस प्रकारका उल्लेख है—

बलिते प्रभुर हइल ईश्वर आवेश। दन्त कड़मड़ि करि बलय विशेष।।
सन्न्यासी प्रकाशानन्द वसये काशीते। मोर खण्ड खण्ड बेटा करे भाल मते।।
पड़ाय वेदान्त, मोर विग्रह ना माने। कुष्ठ कराइलुँ अंगे तबु नाहि जाने।।
अनन्त ब्रह्मण्ड मोर ये अंगेते वैसे। ताहा मिथ्या बले बेटा केमन साहसे?
सत्य कहौं मुरारि आमार तुमि 'दास'। ये ना माने मोर अंग सेइ जाय नाश।।
सत्य मोर लीला कर्म, सत्य मोर स्थान। इहा मिथ्या बलि मोर करे खान खान।।
ये यशः श्रवणे आजि अविद्या-विनाश। पापि अध्यापके बले—'मिथ्या' से विलास।।
हेन पुण्यकीर्ति प्रति अनादर यार। से केमन जाने गुप्त मोर अवतार।।

[अर्थात् बोलते-बोलते प्रभुको ईश्वर-आवेश हुआ और दाँत पीसते हुए उन्होंने कहा—प्रकाशानन्द नामक संन्यासी काशीमें रहता है और वह

ठीक प्रकारसे मेरे विग्रहको टुकड़े-टुकड़े करता है। वेदान्त पढ़ाता है, पर मेरे विग्रहको नहीं मानता है। उसके अंगोंमें कुष्ठ कराया तब भी यह नहीं जान पाया। अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे जिस अंगमें विश्राम करता है, वह बेटा उसे 'मिथ्या' कहनेका साहस किस प्रकार करता है? सत्य कहता हूँ मुरारि कि तुम मेरे दास हो, जो मेरे अंगको नहीं मानता है, उसका नाश हो जाता है। मेरे लीला-कर्म ओर स्थान (धाम) सत्य हैं। वह इसे मिथ्या कहता है और खान-खान करता है। जिस यशका श्रवणकर अविद्याका नाश होता है, वह पापी अध्यापक उस विलासको मिथ्या कहता है। हे गुप्त! ऐसे पुण्यकीर्तिके प्रति जिसका अनादर है, वह बिल्कुल ही मेरे अवतार-तत्त्वको नहीं जानता है।

"प्रकाशानन्द एकदण्डि-शांकर सम्प्रदायके सन्यासियोंके तात्कालिक नेता थे और श्रीप्रबोधानन्द महीशूर (मैसूर) देशसे आगत रंगक्षेत्रमें प्रवास करने वाले रामानुजीय त्रिदण्डि-जीयायस्वामी थे। प्रकाशानन्द काशीवासी मायावादी थे और प्रबोधानन्द काम्यवन प्रवासी वैष्णव। एक व्यक्ति आर्यावर्तवासी थे और दूसरे दाक्षिणात्य देशके वैष्णव। एक व्यक्ति निर्विशेषवादी थे और दूसरे विशिष्टाद्वैत सविशेषवादी तथा परवर्ती कालमें अचिन्त्यद्वैताद्वैत-मताश्रित। एक विष्णु-वैष्णवके विरोधी होकर उद्धार प्राप्त करनेके बाद भक्त हुए, [किन्तु] दूसरे नित्यसिद्ध गौरपार्षद एवं वैष्णवाचार्य श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके गुरुदेव थे। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके परमाराध्य पितृव्य [चाचा] और गुरुदेवको नित्यसिद्ध भक्तकुलचूड़ामणि नहीं कहकर विष्णु-वैष्णवके विद्वेषी मायावादी और बद्धचर कहकर लाञ्छना और निन्दा करनेसे निरयजनक भीषण वैष्णव-अपराध होता है।

"श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थके मध्यलीला २५वें परिच्छेद ओर आदिलीला ७म परिच्छेदमें मायावादी प्रकाशानन्दके विषयमें ही उल्लेख हुआ है। १४२५से १४३० शकाब्द तक जो व्यक्ति मायावादी था, वही १४३३ शकाब्दमें किस प्रकार दक्षिण देश जाकर रामानुजीय 'श्री'वैष्णव हो सकता है, पुनः १४३५ शकाब्दमें किस प्रकार मायावादी हो गया, यह बात समझसे बाहर है। अतएव प्रकाशानन्दके साथ श्रीप्रबोधानन्दका एकत्व सिद्ध करनेका प्रयास नितान्त अनभिज्ञताका परिचय है। फलतः ऐतहासिक तथ्योंको इस प्रकार जड़से उखाड़ फेंकनेकी प्रवृति कम दुःखकी बात नहीं है। अपने दैन्य और विनयके वशीभूत होकर श्रीपादप्रबोधानन्द सरस्वतीने गोपालभट्ट द्वारा

अपने व्यक्तिगत बातोंको श्रीचरितामृतमें आलोचना करनेसे निषेध करवाया और श्रीलकविराज गोस्वामीने उनके आदेशका लंघन नहीं किया। वर्तमान कालमें जो विपत्ति देखी जा रही है, वह इसीका परिणाम है। यदि श्रीप्रबोधानन्द जानते कि उन्हें विष्णु-वैष्णव-अपराधीकी श्रेणीमें अन्तर्भुक्त करनेके लिए भविष्यमें ऐसी विषमभ्रममयी चेष्टा उत्पन्न होगी, तो भट्ट गोस्वामी द्वारा श्रीकविराज गोस्वामीको इस प्रकार निषेध नहीं करवाते। भक्तिरत्नाकरके पाठक यह समझ सकते हैं।

श्रील प्रबोधानन्दके सम्बन्धमें भक्ति रत्नाकरमें इस प्रकार लिखित है—
तिरुमलय, व्येंकट, आर प्रबोधानन्द। तिन भ्रातार प्राणधन गौरचन्द्र।।
लक्ष्मीनारायण-उपासक ए तिन पूर्वेते। राधा कृष्ण-रसे मत्त प्रभुर कृपाते।।
तिरुमलय, व्येंकट, प्रबोधानन्द तिने। विचारये प्रभु विने रहिब केमने?
मो-सबार संगे परिहास के करिबे? काबेरी स्नानेते संगे केवा लइया जावे?
चारि मास परे प्रभु हइला विदाय। तिन-भाई क्रन्दन करेन उभराय।।
प्रभु तिन भ्राताय करि आलिंगन। कहिला अनेकरूप प्रबोध वचन।।
केह कहे प्रबोधानन्देर गुण अति। सर्वत्र हइल ख्याति यति 'सरस्वती'।।
पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्। ताँर प्रिय ताँ-विना स्वप्ने नाहि आन।।

[अर्थात् तिरुमलय, व्येंकट और प्रबोधानन्द—इन तीनों भाईयोंके प्राणधन थे गौरचन्द्र। ये तीनों पहले लक्ष्मी-नारायणके उपासक थे। पर महाप्रभुकी कृपासे राधाकृष्णके रसमें मत्त हुए थे। (महाप्रभुके जानेकी बात सुनकर) तीनों भाई ये विचार करने लगे कि प्रभुके बिना हम कैसे रहेंगे? हमलोगोंके साथ परिहास कौन करेगा? कौन हमें कावेरी स्नानके लिए संग लेकर जायेगा? चार माासके बाद प्रभु वहाँसे विदा होने लगे और प्रभुके विछोहमें वे क्रन्दन करने लगे। प्रभुने तीनों भाइयोंको आलिंगन किया और अनेक प्रबोध वचन कहा। कोई कहते हैं कि प्रबोधानन्द अत्यन्त गुणी व्यक्ति थे। 'सरस्वती' सन्न्यासीके रूपमें उनकी सर्वत्र ख्याति हुई। पूर्ण ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य उनके अत्यन्त प्रिय थे। उन महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके बिना स्वप्नमें भी वे और कुछ नहीं जानते थे।]

"अध्यापक अफ्रेतेरकी तालिकमें श्रीसंगीतमाधव नामक एक गन्थ श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती द्वारा कृत है—इस प्रकार श्रेणीबद्ध हुआ है। हमने इस ग्रन्थका संग्रह किया है। श्रीसज्जनतोषणी पत्रिका १८वें वर्ष ५वीं संख्यासे १८वें वर्षकी १२वीं संख्यामें वह समपूर्ण प्रकाशित हुआ है।

"श्रीसम्प्रदायस्थ गृहस्थ वैष्णवगण गृहत्याग कर 'एकदण्ड' सन्यास बिल्कुल ही ग्रहण नहीं करते हैं। वे सभी त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण करते हैं और रामानुजाचार्य स्वामीके नामसे जाने जाते हैं। श्रील प्रबोधानन्दके श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थकी आलोचना कर कोई कोई उन्हें ब्रह्मसन्न्यासीके रूपमें स्थिर करते हैं। किन्तु विशिष्ट प्रमाणके अभावमें इसे स्वीकार कर लेनेसे अनेक विपत्तियाँ खड़ी होती हैं।"

श्रील प्रभुपादके उपरोक्त प्रबन्धसे श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके प्रति भ्रमका निराकरण हो जाता है, तथापि यहाँ इस विषयका कुछ और भी पुंखानुपुंख विवेचन किया जा रहा है तथा प्रकाशानन्दके साथ उनका ऐक्य स्थापित करनेकी चेष्टा करनेवालोंके विचारोंकी समीक्षा की जा रही है। इसके लिए पाठकोंसे यह अनुरोध है कि वे इस विषयमें थोड़ा निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाएँ।

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके ऐतिहासिक तथ्योंके लिए जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें श्रीचैतन्यभागवत और श्रीचैतन्यचरितामृत ही सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। हम देखते हैं कि श्रीचैतन्यचरितामृतमें प्रकाशानन्द सरस्वतीके विषयमें तीन प्रसंग हैं—

(१) आदिलीला सप्तम परिच्छेद—इस प्रसंगमें इस विषयका वर्णन है कि मायावादी, निन्दक आदि अनेक प्रकारके कुतार्किकगण महाप्रभु द्वारा प्रकटित प्रेमवन्या (प्रेमकी बाढ़) से दूर चले गये, नदीया छोड़कर उन लोगोंका उद्धार करनेकी इच्छासे महाप्रभुने संन्यास ग्रहण किया तथा शुद्ध भक्तिका प्रचारकर उन सबको अपने चरणोंमें आकर्षित किया। काशीवासी मायावादी संन्यासियोंका उद्धार करनेकी इच्छासे भक्तोंके अनुनयसे उन्होंने अपने स्वरूपका ऐश्वर्य प्रदर्शित कर उनकी श्रद्धाका आकर्षण किया तथा बादमें उनलोगोंकी जिज्ञासाके अनुसार मायावाद-सिद्धान्तके प्रवर्तक श्रीशंकराचार्यके मतमें सर्वविध दोषोंको दिखाया। भगवत्-दर्शनरूप सुकृति-बलसे उन लोगोंको भक्तिपथमें लाकर उन लोगोंके ऊपर कृपा की। इस अध्यायमें ७/६२, ७/६५ पयारोंमें 'प्रकाशानन्द' नामका उल्लेख है।

(२) मध्य लीला सप्तदश परिच्छेद—इस परिच्छेदमें कुछ अन्य विषयोंके अतिरिक्त इन विषयों वर्णन है—श्रीमन्महाप्रभुका झारिखंडके रास्ते वाराणासी पहुँचकर तपन मिश्र और चन्द्रशेखरके साथ मिलन; एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मणका

महाप्रभुका दर्शन करना और प्रकाशानन्दको इसकी सूचना देना; प्रकाशानन्द द्वारा महाप्रभुकी निन्दा सुनकर ब्रह्मणका दुःखित होना और अपने दुःखकी बात महाप्रभुको बताना; प्रकाशानन्द आदिके मुखमें कृष्ण नाम नहीं आनेका कारण पूछना; महाप्रभु द्वारा इसके उत्तरके रूपमें मायावादियोंका संग निषेध कर ब्राह्मणके ऊपर कृपा करना; प्रयागके रास्ते मथुरा आना आदि।

इस अध्यायमें १७/१०४ तथा १७/११५ पयारोंमें प्रकाशानन्दके नामका उल्लेख है।

(३) मध्यलीला पञ्चविंशति परिच्छेद—इस परिच्छेदमें इन विष्योंका वर्णन है—महाराष्ट्रीय ब्रह्मण द्वारा मायावादी संन्यासी तथा महाप्रभुको निमन्त्रण देकर एकत्र करना तथा संन्यासियोंको महाप्रभुका कृपापात्र बनाना; उस दिनसे वाराणसीमें महाप्रभुके माहात्म्यका प्रचार होना; विन्दुमाधव मन्दिरमें शिष्योंके साथ प्रकाशानन्दका आना तथा महाप्रभुके चरण पकड़कर स्वयंको धिक्कारना; वेदान्त संगत भक्तितत्त्वकी जिज्ञासा करना; महाप्रभु द्वारा ब्रह्मसम्प्रदाय-सिद्ध अपूर्व भक्तिका सिद्धान्त सिखाना; श्रीमद्‌भागवतको ब्रह्मसूत्रका भाष्य बताना; चतुःश्लोकीकी व्याख्यामें समस्त तत्त्वोंको बताना; उस दिनसे संन्यासियोंका श्रीमहाप्रभुका भक्त बन जाना।

इस परिच्छेदके २५/२३, २५/६५ ,२५/६९, २५/७९, २५/८५ पयारोंमें 'प्रकाशानन्द' नाम का उल्लेख है।

अब हम श्रीचैतन्यचरितामृतके परिप्रेक्ष्यमें प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दके विषयमें निरपेक्ष विचार करनेमें प्रवृत होवें। सम्भवतः सर्वाधिक निरपेक्ष विचार करनेवाला वही व्यक्ति होगा जिसने न कभी इस ग्रन्थका पठन-पाठन किया हो और जो न कभी इस विषयकी आलोचनामें प्रवृत्त हुआ हो। यदि ऐसे किसी व्यक्तिके हाथमें यह ग्रन्थ देकर इसे पढ़नेका अनुरोध किया जाय तथा उनसे यदि पूछा जाय कि जरा दोनों व्यक्तियोंका कुछ परिचय दें एवं उनका सम्बन्ध बतावें, तो वह स्वयंको अजीब स्थितिमें पायेगा और प्रश्न करनेवालेको यदि पागल समझ ले, तो यह कोई बड़ी बात नहीं होगी। वह कहेगा कि मैं प्रकाशानन्दके विषयमें तो कुछ बता सकता हूँ, परन्तु यह प्रबोधानन्द किस आकाशका कौन-सा पंछी है, यह किसी औरसे पूछ लीजिए। यदि वह दुबारा पढ़े, फिर पढ़े और इस तरह लाखों जन्मों तक भी पढ़ता रहे तो उसका उत्तर यही होगा, जो ऊपर कहा गया है। आखिर ऐसा क्यों? श्रीचैतन्यचरितामृत जैसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ

और उसमें प्रबोधानन्द जैसे महान् गौरपरिकरकी गन्ध भी नहीं हो, अजीब बात है। एक समाधान है सम्भवतः। वह यह कि गोपालभट्ट गोस्वामी आदिने अत्यन्त दीनातावश अपनी महिमा अप्रचारार्थ श्रीकविराज गोस्वामीको इस विषयमें निषेध किया था, जैसा कि श्रीभक्तिरत्नाकर ग्रन्थमें वर्णित है और यहाँ भी इस विषयमें प्रभुपाद द्वारा रचित प्रबन्धमें इस सम्बन्धमें लिखा गया है। इस प्रसंगको यहाँ थोड़ा विश्राम देकर जरा दूसरे पक्ष पर विचार करें।

अब जरा उस निरपेक्ष व्यक्तिको श्रीचैतन्यचरितामृतकी महानता तथा गोड़ीय वैष्णव-सम्बन्धी ऐतिह्य एवं सिद्धान्तके विषयमें इसकी प्रामाणिकताका बोध करा दिया जाय, पुनः प्रबोधानन्द सरस्वतीकी महानता एवं गोड़ीय गोस्वामियोंमें इनकी अग्रगण्यताका भी जरा बोध करा दिया जाय एवं श्रीचैतन्यचरितामृतकी भाँति श्रीचैतन्यभागवतकी महानता तथा प्रमाणिकताके साथ प्रकाशानन्दसे सम्बन्धित उन बातोंको भी बता दिया जाय जो श्रीचैतन्यभागवतमें वर्णित हैं। अब उससे पुनः पूछा जाय कि भाई साहब! अब जरा प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दका सम्बन्ध बतावें। वह व्यक्ति गम्भीर स्वरसे उत्तर देगा—मैं पत्थरपर दो लकीर खींचकर कहता हूँ कि इन दोनों व्यक्तियोंमें इतनी ही निकटता है, जितनी इन दो समानान्तर रेखाओंमें और ये रही पत्थरपर तीसरी लकीर। इतना कहकर वह चुप हो जायेगा तथा प्रश्नकर्ताकी आखोमें झाँकेगा कि प्रश्नकर्ता मेरे उत्तरसे सन्तुष्ट है कि नहीं। प्रश्नकर्त्ता एक रहस्यमयी स्मित विखेरते हुए उसके सामने अगला विचार रख देता है—"किन्तु भाई साहब लोग कहते हैं कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं, इस विषयमें आप क्या कहेंगे?" उस निरपेक्ष व्यक्तिका मस्तिष्क घूमने लगेगा, पर अपनेको संयतकर सर्द आवाजमें अगले ही क्षण प्रत्युत्तर देगा—"आपके लेखकद्वय सिरफिरे हैं। [क्षमा करें यह निरपेक्ष व्यक्ति का उत्तर है] तथ्य और तत्त्वकी दृष्टिसे इतना महान् और प्रामाणिक ग्रन्थ और उसमें इस एक बातकी चर्चाका न होना जो इतना महत्वपूर्ण है! निश्चय ही इन दानों व्यक्तियोंका सम्बन्ध वैसा है जैसा कि आकाश और पृथ्वीका। यदि आकाश और पृथ्वीका मिलन स्थल—क्षितिजका किसीको भान होता है, तो वह देखनेवालेकी दृष्टिकी अक्षमता है। अथवा, अवश्य ही लेखक सिरफिरे हैं।" इतना कहकर वह चुप हो जाएगा। अब प्रश्नकर्ताकी बारी है, लेखकद्वयको सिरफिरा कहा गया—यह सुनकर वह चुपचाप खड़ा

है, सिर नीचा किये हुए।

हाँ पाठको! यह व्यक्ति निरपेक्ष है। कम-कम से कम इन दानों ग्रन्थोंके आधारपर कोई भी दानों व्यक्तियोंको एक कहनेका साहस नहीं कर सकता है। यह तो आपको निर्णय करना है कि इन दानों लेखकोंको आप सिरफिरा स्वीकार करते हैं अथवा पिशाचग्रस्त छिन्नमति लागोंके सिरफिरेपनको दूर करने वाले दो महान् भगवद्भक्त। निश्चय ही आप इनके विषयमें पहला सम्बोधन सुननेकी अपक्षा अपने कानोंमें अँगुली डाल लेंगे अथवा युक्तिसंगत बातों द्वारा ऐसा उत्तर देनेवालेकी जिह्वा काट लेंगे। यही मेरा भी विचार है।

पाठकगण जरा ठंढ़े दिमागसे विचार करें! ऐक्यका स्थापन कहाँ किया जाता है? जहाँ एकता हो वहीं तो ऐसा किया जायेगा। ऐक्य न होने पर भी एकता दिखानेकी चेष्टा भंडामी है ओर ऐसा करनेवाला भंड है। हमारे दोनों प्रपूज्य लेखकोंको ऐसी किसी उपाधि द्वारा अलंकृत करना शमीक ऋषिको मृतसर्प द्वारा अलंकृत करनेके समान होगा। जब दोनों ही व्यक्ति सर्वथा पृथक् हैं, तो लेखकद्वय उन्हें एक बताते ही क्यूँ? ग्रन्थ रचनाके समय श्रीप्रबोधानन्दपादके चरणोंके प्रति अपराधमूलक यह विचार उतने सूक्ष्म रूपमें भी विद्यमान नहीं था, जितने सूक्ष्म रूपमें अविद्याग्रस्त जीवोंका कूटबीज होता है। इसीलिए हमारे लेखकद्वयने इस विचारकी ओर भ्रूक्षेप भी नहीं किया। नहीं तो क्या श्रीकृष्णदासकविराज गोस्वामीको ग्रन्थ विस्तार होनेका भय सता रहा था अथवा ग्रन्थ पूर्ण किये बिना ही नित्य लीलामें प्रविष्ट हो जानेकी चिन्ता सता रही थी [ऐसा वे अपने ग्रन्थमें लिखते हैं।], जो अपने ग्रन्थमें ऐसे अट्ठाइस वर्णोंको नहीं लिख पाये—

काशीते छिल सरस्वती प्रकाशानन्द। सेई हइलेन एखन जे प्रबोधानन्द।।

इस प्रसंगकी महत्वपूर्णताका आभास हमें श्रीचैतन्ययरितामृतके द्वारा प्राप्त होता है। श्रीमन्महाप्रभुने कोटि-कोटि जीवोंका निस्तार किया। जब उनकी इस करुणाका प्रसंग आता है, तो हमारे सम्मुख तीन उदाहरण उपस्थित होते हैं—(१) श्रीनवद्वीपमें जगाई-मधाई, (२) श्रीजगन्नाथ पुरीमें सार्वभौम भट्टाचार्य और (३) काशीमें प्रकाशान्नद। जरा इन तीनों उदाहरणों पर विचार करें और यह निष्कर्ष निकालें कि महाप्रभुकी करुणाकी वर्षा कहाँ सर्वाधिक हुई?

(१) जगाई-मधाई नवद्वीप धाममें रहने वाले थे, परन्तु थे अत्यन्त

दुराचारी और पापी। न जाने और कितने विशेषणोंसे उन्हें विभूषित किया जा सकता है। परन्तु कुछ आवश्यक अवगुण उनमें नहीं थे, जो उन्हें महाप्रभुकी कृपासे वंचित रखते। कुतार्किकोंकी भाँति सधवा स्त्रीके वेशमें वे वारवनिता नहीं थे। इन दोनोंने कभी वैष्णवनिन्दा नहीं की—

सर्वपाप सेइ दुइर शरीरे जन्मिल। वैष्णवेर निन्दा-पाप सवे ना हइले।।
अहर्निश मद्यपेर संगे रंगे थाके। नहिल वैष्णवनिन्दा एइ सब पाके।।
ये सभाय वैष्णववेर निन्दामात्र हय। सर्व धर्म थाकिलेओ तबु हय क्षय।।
संन्यासी-सभाय यदि हय निन्दा-कर्म। मद्यपेर सभा हैते से सभा अधम।।
मद्यपेर निष्कृति आछये कोन काले। परचर्चकेर गति नहि कभु भाले।।

(चै. भा. म. १३/३९-४३)

अर्थात् इन लोगोंने सब पाप किये, पर वैष्णवनिन्दारूप पाप नहीं किया। ये दिन-रात मद्यपोंके ही संगमें ही रहते, इसलिए इनके द्वारा वैष्णवनिन्दा नहीं हुई अर्थात् मद्यपको मद्यपानसे ही फुर्सत नहीं और मद्यपान कर जब नशेमें ही धुत हो जाते हैं तो फिर वे निन्दा कैसे करेंगे? जिस सभामें वैष्णवोंकी निन्दा होती है, वहाँ सर्वधर्म रहनेपर भी उनका क्षय हो जाता है। संन्यासियोंकी सभामें भी यदि वैष्णवनिन्दारूप कर्म होता है, तो वह सभा मद्यपोंकी सभासे अधम है। मद्यपका कभी निस्तार हो जाये। यह सम्भव है, परन्तु वैष्णवनिन्दारूप परचर्चा करनेवालेकी अधोगति होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुने अत्यन्त दुराचारी जगाई-मधाईके ऊपर करुणाकी वर्षा की और अपना करुणावरुणालय नाम सार्थक किया।

(२) श्रीजगन्नाथ पुरीमें उन्होंने सार्वभौभ भट्टाचार्यके ऊपर कृपा की। सार्वभौभ भट्टाचार्य महाप्रभुके कृपा प्राप्त होनेसे पहले शंकराचार्यके विचारोंमें ही पगे थे। मायावादके सिद्धान्तमें स्नात रहनेपर भी इनके जीवनका दूसरा पक्ष भी था, जो था भक्तका पक्ष। जगन्नाथ पुरीमें श्रीजगन्नाथ मन्दिरके ये एक बड़े अधिकारी थे। आम मायावादियोंकी भाँति इनका हृदय बिल्कुल ही शुष्क नहीं था। इन बातोंका वर्णन विस्तारपूर्वक श्रीचैतन्य चरितामृतमें किया गया है। अल्प दिनोंमें ही श्रीगोपीनाथ आचार्यकी इच्छाके अनुसार वेदान्त सुनने और सुनानेके छलसे महाप्रभुने इनके ऊपर कृपा की और ये महाप्रभुके विशेष कृपाप्राप्त परिकरोंमें परिगणित होने लगे।

(३) काशी धाममें श्रीमन्महाप्रभुने उस महाराष्ट्रीय ब्राह्मणकी इच्छा तथा

वहाँ रहने वाले भक्तगण—चन्द्रशेखर वैद्य, तपन मिश्र आदिकी इच्छाको पूर्ण करते हुए वहाँके मायावादी संन्यासियोंके मुकुटमणि प्रकाशानन्द सरस्वतीके ऊपर कृपा की।

अब हम इन तीनों घटनाओंकी समीक्षा करें ओर इस निष्कर्ष पर पहुँचनेकी चेष्टा करें कि महाप्रभुकी वदान्यताका परिचय सर्वाधिक कहाँ प्राप्त होता है? जगाई-मधाईकी घटनामें हम देखते हैं कि ये दोनों अत्यत्यन्त दुराचारी होते हुए भी कुतार्किक नहीं थे। इन्होंने विष्णु-वैष्णवोंकी निन्दा नहीं की। करते भी कैसे मद्यपानसे फुर्सत मिलती तभी तो। इसीलिए चैतन्यभागवतमें लिखा गया है कि इनका उद्धार तो सरल है, किन्तु कुतार्किकोंके लिए यह अत्यन्त कठिन है। अब यह भी विचार करें कि यहाँ इनके ऊपर कृपा किन्होंने की? श्रीचैतन्यभागवतसे हम जान पाते हैं कि श्रीनित्यानन्द प्रभुने ही इनके उद्धार और महाप्रभुकी वदान्यता जगतको दिखानेके लिए यह लीला रची थी। अतः वस्तुतः इनका उद्धार तो उसी समय हो गया था, जिस समय श्रीनित्यानन्दप्रभुके मनमें इनके प्रति करुणा करनेका विचार आया। इतना ही नहीं, लीलामें भी यही देखा जाता है कि इन दोनोंमें भी जिसने अधिक अपराध किया—मधाई, उसे भी नित्यानन्द प्रभुने ही महाप्रभुकी इच्छासे आलिंगन प्रदानकर प्रेममें मत्त कर दिया। वर्णनमें प्रायः हम यही पढ़ते हैं कि महाप्रभुने इनके ऊपर कृपा की। वह ठीक है, परन्तु सूक्ष्म विवेचनसे पाते हैं कि श्रीनित्यानन्द प्रभुका भी प्रत्यक्ष योगदान कम नहीं है। जो लोग अद्वयज्ञान परतत्त्वके स्वयंरूप और स्वयंप्रकाश विग्रहके चिल्लीलावैचित्र्यको ध्वंस करनेकी चेष्टा करेंगे, वे प्रकाशानन्दकी भाँति निर्विशेषवादी—मायावादी हो पड़ेंगे। अतएव जगाई-मधाईकी लीलामें श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु और श्रीमन्महाप्रभु दोनोकी वदान्यता दिखाई पड़ती है।

सार्वभौम भट्टाचार्यकी घटनामें किन्तु ऐसा नहीं है। वहाँ महाप्रभुने ही उनके ऊपर कृपा की थी। सार्वभौम भट्टाचार्यका अन्तःकरण शंकराचार्यके सिद्धान्तमें निपुण होनेके कारण जगाई-मधाईकी अपेक्षा अधिक शुष्क था। किन्तु उनकी लीलामें भी यह नहीं सुना जाता है कि वे वैष्णव-निन्दक थे। इसलिए उनके ऊपर महाप्रभुने जो कृपा की, उसमें जगाई-मधाईकी अपेक्षा अधिक वदान्यताका परिचय दिया है।

किन्तु अब जरा काशीकी घटना पर विचार करें। प्रकाशानन्दका जीवनचरित्र देखनेसे हमें पता चलता है कि वे विष्णु-वैष्णवके घोर विरोधी

थे। इतना ही नहीं वे साक्षात् श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी ही निन्दा करते थे। वे पक्के मायावादी थे, जिनका अन्तःकरण पत्थरकी भाँति शुष्क था। घटनाक्रमके विस्तारमें न जाकर विषयवस्तुकी ही समीक्षा की जाय, क्योंकि घटनाक्रमका वर्णन विस्तृतरूपसे चैतन्यचरितामृत और चैतन्यभागवतमें उपलब्ध है। ऐसे पक्के मायावादी और कुतार्किकके ऊपर भी कृपा करके श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपनी वदान्यताका यथार्थ परिचय दिया।

जगाई-मधाईका उद्धार तो महाप्रभुने कुछ दिनों [या मिनटों] में कर दिया। वहाँ भी केवल इनकी वदान्यता नहीं है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। सार्वभौम भट्टाचार्यके सम्बन्धमें यह समय महीनों तक जा पहुँचा। किन्तु प्रकाशानन्दके ऊपर कृपा करनेमें वर्षोंका समय लगा। महाप्रभुकी गार्हस्थ लीलासे ही इन दोनोंका सम्बन्ध परोक्षरूपसे था और इसकी चरम परिणति हुई संन्यास लीलाके करीब ३-४ वर्ष बाद। अतः इस कुतार्किकके ऊपर कृपा करनेमें वर्षोंका समय लगा। अब आप विचार कर सकते हैं कि इस लीलामें जिन भगवद्विद्वेषियोंके ऊपर महाप्रभुने कृपा की, उसके चूड़ामणि प्रकाशानन्द ही हैं। इसीलिए श्रीकृष्णदास कविराजने भी इसके वर्णनमें सैकड़ों पयार लिखे हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें तीन जगह इसका वर्णन आया है, जिसमें दो बार तो इनके उद्धारका प्रायः पूरा प्रसंग लिखा गया है।

शायद पाठकोंको यह लग रहा होगा कि मैं मूल विषयसे हटकर इतना लम्बा बकवास क्यूँ कर रहा हूँ? किन्तु इतना लिखनेका उद्देश्य यह दिखाना था कि प्रकाशानन्द भगवद्विद्वेषी चूड़ामणि थे और हमारे दानों ही लेखक महोदयने इस लीला विशेषको कितना महत्वपूर्ण समझा है और अपने-अपने ग्रन्थका इतना भाग इसके ऊपर क्यों खर्च किया है? **श्रीकविराज गोस्वामीने दो-दो बार लिखा कि महाप्रभुने इनके ऊपर कृपा की। किन्तु क्या वे एक बार भी यह नहीं लिख सकते थे कि ये ही कृपा प्राप्त करनेके बाद प्रबोधानन्द हुए?** जबकि प्रबोधानन्द स्वयं भी एक अतिविशिष्ट व्यक्ति थे। अन्यान्य लेखकोंने लालदास कृत भक्तमालके उस प्रसंगको जो लिखा है कि महाप्रभुके प्रबोध वचन द्वारा प्रबोधित होनेके कारण महाप्रभुने इनका नाम प्रबोधानन्द रखा, क्या यह श्रीकविराज गोस्वामीको पता नहीं था? कहनेका अर्थ यह है कि दो इतने अतिविशिष्ट व्यक्ति जो नदीके दो किनारे पर खड़े हों और इन दानों किनारोंको जोड़नेका काम जो एक पंक्ति द्वारा हो सकता था, उसे श्रीकविराज गोस्वामीपादने नहीं किया, ऐसा कहना असंगत है। कोई

यह भी नहीं कह सकता है कि ग्रन्थरचनाकाल तक 'प्रबोधानन्द' नाम प्रचलित नहीं हुआ था। क्योंकि चैतन्यचरितामृतकी रचनाका आरम्भ महाप्रभुकी अप्रकट लीलाके कई वर्षों बाद हुआ और 'प्रबोधानन्द' नामकरण (?) अप्रकट लीलासे करीब २० वर्ष पहले हुआ। निश्चय ही तब तक वे अत्यन्त प्रख्यात हो चुके होंगे। क्यों नही श्रीकविराज गोस्वामी या वृन्दावनदास ठाकुरने 'प्रबोधानन्द' नामका प्रयोग अपने-अपने ग्रन्थोंमें किया, यदि दोनों व्यक्ति एक ही थे? माना कि एकने नहीं किया, किन्तु बादवाले तो इस भ्रमको दूर कर देते। उत्तर स्वच्छ जलकी भाँति स्पष्ट है कि दोनों महापुरुषोंकी दृष्टिमें इन दोनोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। दोनों बिल्कुल पृथक् व्यक्ति हैं।

अभी और भी सूक्ष्म विचार इस सम्बन्धमें हैं, जिनकी मीमांसा हम तब करेंगे, जब एक-एक लखकोंके विचारोंकी चर्चा करेंगे।

हाँ यहाँ एक प्रसंग जरूर प्रस्तुत करना चाहूँगा। डा. अवध विहारीलाल कपूरने ब्रजके रसिकाचार्य ग्रन्थमें इस विषय पर आक्षेप किया है। प्रकाशानन्दके प्रबोधानन्द नहीं लिखे जानेके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है—" × × × पर चैतन्यचरितामृतका प्रतिपाद्य विषय प्रबोधानन्द या प्रकाशानन्दका चरित्र तो है नहीं। आनुषंगिक रूपसे उसमें प्रकाशानन्दसे मिलनका वर्णन है। इसलिए चैतन्यचरितामृतके लेखकसे यह आशा करना कि वे उनके आगे-पीछेके जीवन-से सम्बन्धित सभी बातोंका उल्लेख करते, युक्तिसंगत नहीं है। यह बिल्कुल सम्भव है कि महाप्रभुने ही प्रकाशानन्दका नाम प्रबोधानन्द ★ रखा हो, जिस प्रकार अमर और सन्तोषके नाम उन्होंने बदलकर रूप और सनातन रखे।"

डा. कपूरका यह विचार बिल्कुल ओछा है। हम प्रकाशानन्द या प्रबोधानन्दके पूर्व और उत्तर जीवनचरित्रकी बात नहीं कर रहे हैं। हम तो केवल यह कह रहे हैं कि एक बार और केवल एक बार यदि वे इस तथ्यको लिख देते, तो न ही उनके ग्रन्थका कलेवर बढ़ जाता न ही एक पयार लिखते-लिखते नित्यलीलामें प्रविष्ट हो जाते, न ही वे

★[हम प्रारम्भसे ही प्रबोधानन्दको प्रबोधानन्द कहते आये हैं। पर उनका संन्यास लेनेके पूर्व नाम था 'प्रबुद्ध'। प्रबोधानन्दके नामसे वे परिचित हुए थे महाप्रभुकी कृपा लाभ करनेके बाद ही।]—टिप्पणी डा. कपूर द्वारा

मूल प्रसंगसे अलग हट जाते। रही बात यह कि यह प्रसंग आनुषंगिक है, तो यह विचार बिल्कुल गलत है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह प्रसंग इतना महत्वपूर्ण है कि प्रायः दो बार पूरा ही वृत्तान्त श्रीचैतन्य चरितामृत ग्रन्थमें आया है। लगता है, डा. कपूर श्रीकविराज गोस्वामीके सिर पर पैर रखकर छलांग लगाना चाहते हैं, इसीलिए टिप्पणीमें उन्होंने बड़े ही शानपूर्वक लिखा है कि हमने प्रबोधानन्दको प्रबोधानन्दसे ही सम्बोधित किया है। लेकिन चरित्र तो महोदयने पूरा प्रकाशानन्दका घुसा दिया। यदि कृष्णदास कविराज गोस्वामीको भी यही अभिप्रेत होता, तो वे भी पूरे ग्रन्थमें प्रकाशानन्द न लिखकर प्रबोधानन्द ही लिखते और चरित्र यही रहता। तब तो न ही डा. कपूरको अपनी टिप्पनी देनेकी आवश्यकता पड़ती, न ही हमें उनसे उलझने की। स्पष्ट है दोनों ही अलग-अलग व्यक्ति हैं।

आपने एक बात और लिखी है—"यह बिल्कुल संभव है कि महाप्रभुने ही प्रकाशानन्दका नाम प्रबोधानन्द रखा हो, जिस प्रकार अमर और सन्तोषके नाम उन्होंने बदलकर सनातन और रूप रखे।"

हमारी भी पूर्ण इच्छा होती है कि आपके विचारको ग्रहण करूँ, किन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप इस दुराग्रहसे बिलकुल ही ग्रसित हैं, इसीलिए आपने लिखा 'बिलकुल सम्भव है', इसमें अब कोई शक-सुबहा की तो बात ही नहीं है। निश्चय ही आप भक्तिरत्नाकर और अनुरागवल्लीके लेखकोंकी ग्रीवापर कुठाराघातकर 'भक्तमाल' (बंगला) और 'अद्वैत प्रकाश' के लेखक क्रमशः लालदास और महाप्रभुके समसामयिक इशाननागर (?) के चरणोंका धोवन पान कर रहे हैं। इस बातकी समीक्षा हम बादमें करेंगे, किन्तु यहाँ बता दें कि यह निर्विवाद सत्य है कि अमर और सन्तोषके नाम बदलकर महाप्रभुने सनतान और रूप रखे। किन्तु एक बात आपत्तिजनक है (चैतन्यचरितामृत और चैतन्यभागवतके अनुसार), वह यह कि महाप्रभुने अमर और सन्तोषके नाम नहीं बदले, नाम बदले 'साकरमल्लिक' और 'दबिरखास' के। क्षमा करें दोनों बातोंमें कोई भेद नहीं है। लेकिन तब भी भेद है, क्योंकि श्रीमन्महाप्रभुने अचिन्त्य-भेदाभेदका प्रतिपादन किया है। जब सारी आफतकी जड़ ही नाम है, तो जिस प्रसंगमें जिस नामका उल्लेख हो उसीको उद्धृत करना समीचीन है। आपने शायद इस अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्वका ध्यान नहीं रखा है, इसीलिए भेदमें भी केवल अभेद की ही प्रतीति हो रही है, मायावादी प्रकाशानन्दकी भाँति। आपकी शान्तिकी कामनासे मैं

दोनों प्रसंगोंको यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

शेषखण्ड, श्रीगौरसुन्दर महाशय। दबिरखासेर प्रभु दिला परिचय।।
प्रभु चिनि' दुई भाइर बन्ध-विमोचन। शेषे नाम थुइलेन 'रूप', 'सनातन'।।
(चै. भा. आ. १/१७१-१७२)

शुनि' महाप्रभु कहे,—शुन दबिरखास। तुमि दुइ भाइ—मोर पुरातन दास।।
आजि हैते दुँहार नाम 'रूप' 'सनातन'। दैन्य छाड़, तोमार दैन्ये फाटे मोर मन।।
(चै. च. म. १/२०७-२०८)

आपने टिप्पणीमें तो एक और बात कही है। वह यह कि संन्यास लेनेके पूर्व प्रबोधानन्दका नाम था प्रबुद्ध। संन्यास (मायावादी) के बाद हुआ—प्रकाशानन्द और महाप्रभुकी कृपा प्राप्त करनेके बाद प्रबोधानन्द। क्या खूब कही। क्या आपके पास कोई प्रामाणिक पुस्तक है जिसके आधारपर आपने प्रकाशानन्दका पूर्वनाम प्रबुद्ध बताया? यदि है तो मेरी भी आकांक्षा है, उस पुस्तकको देखनेकी। यदि आप अपनी टिप्पणीमें इसे प्रमाणित कर देते, तो क्या ही अच्छा होता! जो भी हो उनका पूर्वाश्रमका नाम यदि प्रबुद्ध हो भी, तो इससे क्या आता-जाता है? संन्यासके नामके साथ पूर्वाश्रमके नामक संगति बिल्कुल ही नहीं होती है, शायद यह अतः बताने आवश्यकता नहीं। अतः आपके द्वारा पूर्वाश्रमका नाम—'प्रबुद्ध' लिखनेके उद्देश्यको हम नहीं समझ पाये। जहाँ तक मेरा विचार है इस प्रसंगको यहाँ लिखना बेतुका ही नहीं है, बल्कि इसके पीछे कपट साजिश है। इसके द्वारा आप ग्रन्थोंमें अधिक प्रवेश नहीं रखनेवाले प्रायः सरल पाठकोंके मनमें यह गलत विचार डालनेकी चेष्टा कर रहे हैं कि 'प्रबुद्ध' और 'प्रबोधानन्द' श्रुतिसम होनेके कारण एक हैं और इनके ही मध्य अवस्थाका नाम 'प्रकाशानन्द' था।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन और रूपके मुस्लिम नामोंको बदलकर वैष्णव नाम दिया, यह प्रयोजन तो समझमें आता है। परन्तु 'प्रकाशानन्द' को 'प्रबोधानन्द' में परिवर्तित करनेका प्रयोजन समझमें नहीं आया। यदि कहें कि 'प्रकाशानन्द' शब्दमें उन्हें मायावादी नामकी गन्ध आती थी, तो प्रश्न होता है 'प्रबोधानन्द' शब्दसे वह गन्ध दूर कैसे हो गई? हमें तो इन नामोंमें कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता—प्रज्ञान—प्रकाश—प्रबोध। शास्त्रोंमें एकके अर्थमें दूसरे शब्दका प्रयोग बहुत सुलभतासे प्राप्त होता है। शायद आप इसके पीछे बंगला भक्तमालकी बात करें, तो हमने पहले ही लिखा है कि इस ग्रन्थकी समीक्षा और आगे की जायेगी। वहाँ महाप्रभुके प्रबुद्ध

वचनसे प्रबोधित होनेके कारण प्रबोधानन्द नाम देना, कविकी कष्टकल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि इसका न तो सैद्धान्तिक आधार है और न ही कोई पुष्ट प्रमाण।

अरे हाँ, एक अत्यन्त आवश्यक बात पूछना तो भूल ही गया। आपने लिखा है कि 'प्रकाशानन्द' को 'प्रबोधानन्द' लिखना चैतन्यचरितामृतकारका उद्देश्य नहीं है, इसलिए यदि नहीं लिखा तो कौन-सा अनर्थ हो गया? हम आपके इस विचारसे भी सहमत नहीं हैं, क्योंकि अनर्थ क्या हुआ, यह आपके सामने राक्षस बनकर खड़ा है। यदि 'हमारे किसी महाजनके पूर्व नामका परिवर्तन कर नया नाम देना'—इस प्रसंगका वर्णन करना ग्रन्थकारको अभिप्रेत नहीं, क्योंकि इससे ग्रन्थके मूल अभिप्रायमें बाधा पड़ेगी, तो फिर श्रीकविराज गोस्वामीने साकरमलिक और दबिरखासके नाम परिवर्तनकी बात अपने ग्रन्थमें क्यों लिखी? केवल श्रीकविराज गोस्वामीने ही नहीं श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने भी अपने ग्रन्थमें इस तथ्यको लिखा है। इसके उत्तरमें शायद आप कहें कि रूप-सनातनका उद्धार अधिक महत्वपूर्ण था प्रबोधानन्दकी अपेक्षा। परन्तु यह दाल भी गलनेवाली नहीं है। रूप-सनातन मुस्लिम नाम द्वारा परिचित होनेपर भी उनका अन्तःकरण बिल्कुल भक्त जैसा था। परन्तु प्रकाशानन्दका अन्तःकरण मायावादरूप दोषसे पूर्णतया दूषित होनेके कारण इनके नामकरणकी महत्ता कम नहीं होती है। यदि ग्रन्थरचनाका मूल अभिप्राय केवल महाप्रभुकी लीलाका वर्णन करना है, तो मेरा प्रश्न यह है कि महाप्रभु द्वारा किसी अतिविशिष्ट मायावादीका नाम बदलना उनकी लीलाके अन्तर्गत है या नहीं? अतएव हमारे लेखकद्वयने जो प्रकाशानन्दको एक नहीं बताया, उसका बिलकुल स्पष्ट कारण है—जब दोनों एक थे ही नहीं, तो उसे एक बताते ही क्यों?

पतेकी एक बात और है, वह यह कि श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने जहाँ श्रीमन्महाप्रभु द्वारा साकर मालिक और दबिर खासके नाम-परिवर्तनका उल्लेख किया है, ठीक उसके अगले ही पयारमें महाप्रभुके काशी गमनका पयार लिखा है। वह इस प्रकार है—

शेषखण्डे, गौरचन्द्र गेला वाराणसी। ना पाइल देखा जत निन्दक संन्यासी।।

(चै. भा. आ. १/१७३)

इस पयारका विचार पाठकोंके ऊपर छोड़कर मैं आगे बढ़ता हूँ। चूँकि संक्षेपपूर्वक लीलावर्णनके क्रममें नामपरिवर्तनका प्रसंग चल रहा है, अतः

श्रीवृन्दावनदास ठाकुरको 'प्रकाशानन्द' के नाम परिवर्तनकी बात लिख देनी चाहिए थी।

अभी तक हम श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतके परिप्रेक्ष्यमें सभी विरोधी युक्तियोंका खण्डनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लेखकद्वयके विचारमें प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। अब हम पहले स्वयं श्रीप्रबोधानन्द द्वारा रचित ग्रन्थोंके अतिरिक्त उन ग्रन्थोंके ऊपर भी विचार कर लें, जहाँ इस विषयके सम्बन्धमें थोड़ा भी वर्णन है।

(क) हिन्दी भक्तमाल—यह ग्रन्थ श्रीनाभादासजी कृत है, जो गौड़ीय वैष्णव नहीं थे। तथापि भक्तोंके चरित्रका वर्णन करते हुए उन्होंने श्रीप्रबोधानन्दके विषयमें सूत्ररूपमें केवल एक पंक्तिमें वर्णन किया है कि प्रबोधानन्द संन्यासियोंके मुकुटमणि थे।

श्रीनाभादासजी द्वारा लिखी गयी पंक्तिके आधारपर कोई भी इस निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकता है कि वे मायावादी संन्यासी थे। परन्तु आधुनिक कुछ गवेषकोंने अपने पूर्व दुराग्रहके कारण ही उन्हें मायावादी संन्यासी मान लिया है। 'संन्यासियोंका मुकुटमणि'—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम—जहाँ संन्यासियोंकी संख्या अत्यधिक हो और उन सभी संन्यासियोंका कोई एक प्रतिनिधि हो, तो उस प्रतिनिधिको 'संन्यासियोंका मुकुटमणि' कहा जा सकता है। द्वितीय—वह संन्यासी अपने गुणोंके आधार पर श्रेष्ठातिश्रेष्ठ हो। जिस लेखकने प्रथम व्याख्याको ही आधार माना है, वे ही इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि प्रबोधानन्द प्रकाशानन्द ही थे, क्योंकि उनके आनुगत्यमें हजारों शिष्य थे। किन्तु यह विचार मैं पुनः पाठकोंके ऊपर छोड़ता हूँ कि वे प्रथम व्याख्याको ग्रहण करते हैं या द्वितीय व्याख्याको। हमें तो नाभादासजीकी पंक्तिसे यही दृष्टिगोचर होता है कि प्रबोधानन्द [रामानुजीय] संन्यासी थे और अपने गुणोंके कारण ही वे संन्यासियोंके मुकुटमणि थे। डा. अबधविहारी लाल कपूरने प्रथम व्याख्याको आधार बनाकर अपनी बातकी पुष्टिके लिए श्रीप्रियादासजी द्वारा कृत टीकाको उद्धृत किया है और अपने हाथों अपने ही पैड़ोंपर कुल्हाड़ी मार ली है। किस प्रकार, यह हम आगे बताएँगे।

(ख) अनुरागवल्ली—इसके लेखक हैं श्रीमनोहरदासजी, जो श्रीनिवासाचार्यकी परम्परामें हैं। श्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानके अनुसार ये ही भक्तमालके टीकाकार प्रियादासजीके गुरु थे और श्रीरामशरणचट्टराजके शिष्य थे। ये रामशरणचट्टराज श्रीनिवासाचार्यके शिष्य थे। मनोहरदासजीने १६१८ शकाब्द

(तदनुसार १६९६-९७ ई. सन्) में अनुरागवल्ली ग्रन्थकी रचना की।

डा. अवधविहारी लाल कपूरने इस ग्रन्थमें वर्णित इस विषयसे सम्बन्धित बातका थोड़ा-सा उल्लेख किया है [पृष्ठ २३१]— "अनुरागवल्ली'के लेखक मनोहरदासने लिखा है कि गोपालभट्ट अपने पिता और पितृव्य तीनों भाइयों और उनकी पत्नियोंके देहान्तके पश्चात् सबका समाधानकर वृन्दावन गये।" पृष्ठ २३४ पर उन्होंने और भी लिखा है—"(५) प्रकाशानन्द और चैतन्यचन्द्रामृतादि ग्रन्थोंके लेखक प्रबोधानन्द जब एक ही व्यक्ति हैं, तो उनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें जो जानकारी हमें चैतन्यभागवत और चैतन्यचरितामृतसे प्राप्त होती है, उसके विपरीत यदि श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तर्धानके १६३ वर्ष बाद लिखी गयी अनुरागवल्लीमें कुछ है, तो उसका कोई मूल्य नहीं। उसे अनुरागवल्लीके लेखककी भूल ही मानना होगा।"

(ग) भक्तमालकी टीका—इसके रचियता श्रीप्रियादासजी हैं, जो अनुरागवल्लीके लेखक श्रीमनोहरदासजीके शिष्य थे, ऐसा हमने श्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानके आधारपर पहले प्रमाणित कर दिया है। भक्तमालके ऊपर किसी गौड़ीय वैष्णव द्वारा रचित यह पहली टीका है।

अब हम जरा उपरोक्त तीन ग्रन्थोंके ऊपर विवेचन कर लें। श्रीप्रियादासजीने भक्तमाल टीकामें प्रबोधानन्दके विषयमें जो लिखा है, उसे यहाँ यथायथ उद्धृत किया जा रहा है—

श्रीप्रबोधानन्द बड़े रसिक आनन्दकन्द,
श्रीचैतन्यजूके पारषद प्यारे हैं।
राधाकृष्ण-कुञ्ज-केलि निपट नवेली कही,
झेलि रस-रूप दोऊ किये दृग तारे हैं।।
वृन्दावन वासकौ हुलास लै प्रकाश कियौ,
दियौ सुख-सिन्धु कर्म-धर्म सब टारे हैं।।
ताही सुनि-सुनि कोटि-कोटि जन रंग पायौ,
विपिन सुहायौ, बसे तन-मन वारे हैं।।

डा. कपूरने उपर्युक्त छप्पयको इस तर्ककी पुष्टिके लिए उद्धृत किया है कि प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्द एक ही व्यक्ति हैं। इसी प्रसंगमें उन्होंने भक्तमालका विचार उपस्थित किया है, जिसमें प्रबोधानन्दको संन्यासियोंका मुकुटमणि कहा गया है और तब प्रियादासजीकी टीकाको उद्धृत किया है। मैं पाठकोंसे यह जानना चाहता हूँ कि भक्तमालकी टीकाको उद्धृत

करनेसे डा. कपूरने कौन-सा मैदान भार लिया। इन छप्पयोंमें उनके मायावादी होनेकी गन्ध भी नहीं है, तो भला डा. कपूरने किस उद्देश्यसे इसे उद्धृत किया। उन्होंने सोचा होगा कि अबोध पाठक अवश्य ही उनके झाँसेमें आ जाएँगे। हाँ, 'मुकुटमणि' की जो दूसरी व्याख्या हमारे द्वारा की गई थी, उसकी पुष्टि इन छप्पयोंसे अवश्य होती है कि वे अत्यन्त गुणवान थे। वे मायावादी संन्यासी थे या रामानुजीय संन्यासी, इस बातका खुलासा यहाँ बिल्कुल नहीं होता है, तथापि इस प्रसंगको मायावादी संन्यासीके पक्षमें उद्धृत करना दुराग्रह नहीं तो और क्या है। हम गौड़ीय वैष्णवोंके द्वारा रचित पूर्व सर्वप्रामाणिक ग्रन्थोंसे यह पहले ही दिखाते आ रहे हैं कि उस समय तक प्रबोधानन्दको ही प्रकाशानन्द समझनेके बीजकी भी सृष्टि नहीं हुई थी। अतः यह प्रतीत होता है कि प्रियादासजी भी इसी विचारसे सहमत हैं। यदि उनके मनमें इस प्रकारका कोई संशय होता तो अवश्य ही अपनी टीकामें उसका वर्णन कर देते। अथवा नहीं तो निरपेक्ष रूपसे ही यदि वे जरा-सा भी इंगित कर देते तो क्या बिगड़ जाता? स्पष्ट है उनके अन्तःकरणमें भी प्रबोधानन्दकी स्वतन्त्र मान्यता ही थी।

अब एक और तथ्यपर विचार करें। अनुरागवल्लीमें क्या तथ्य लिखा गया है इस सम्बन्धमें, वह हमारे विचारका फिलहाल कोई मुद्दा नहीं है। हम आपलोगोंको डा. कपूरके अन्तःकरणका परिचय देना चाहते हैं। उन्होंने अनुरागवल्लीके लेखककी खूब भर्त्सना की है और यहाँ तक लिख डाला है कि वे अपने मनकी बकते रहें, मुझे इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है, क्योंकि उनकी रचना महाप्रभुके अप्रकटके १६३ वर्ष बाद हुई है और चैतन्यचरितामृत और चैतन्यभागवतसे उसकी संगति नहीं है। क्या ही अच्छा फरमाया है कपूर साहबने। वे जरा मुझे बतावें कि उनकी किस बातकी संगति इन दोनों प्रामाणिक ग्रन्थोंसे नहीं होती है। अपनी कष्ट कल्पनाके आधारपर वे लोगोंको भ्रमितकी चेष्टामें रत हैं। उन्होंने कहा कि महाप्रभुके अप्रकटके १६३ वर्ष बाद लिखी पुस्तकमें वर्णित तथ्यका कोई मूल्य नहीं है। अजीब विडम्बना है, वक्त पड़नेपर लोग गदहेको भी बाप बना लेते हैं। १६३ वर्ष बादकी पुस्तकका मूल्य नहीं, परन्तु २०० वर्ष (अनुमानतः) बादकी पुस्तकका उनकी नजरोंमें अतीव मूल्य है। हाँ पाठको! यह पहले ही हमने प्रमाणित किया है कि ये प्रियादासजी और कोई नहीं अनुरागवल्लीके लेखक मनोहरदासजीके शिष्य हैं। गुरु और शिष्यकी रचनामें अनुमानतः

४० वर्षोंका अन्तर होना कोई बड़ी बात नहीं हैं।

पाठको! इस प्रसंगको उपस्थित करनेका मेरा उद्देश्य यह नहीं था कि मैं इनमेंसे किसे प्रामाणिक मानता हूँ, बल्कि यह दिखाना कि आपलोगोंको किस प्रकार ठगा जा रहा है। यदि काई प्रियादासजीको प्रामाणिक मानकर दोनोंको एक कहनेकी चेष्टा करे भी, तो उसकी खिचड़ी नहीं पकती। यदि गौड़ीय वैष्णव अभिधान गलत भी सूचना दे रहा हो कि मनोहरदाससजी और प्रियादासजी गुरु-शिष्य हैं, तो भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। क्योंकि भक्तमालकी टीकाकी रचना महाप्रभुके अप्रकटके अनुमानतः २०० वर्षों बाद ही हुई है। और यदि उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्यका है, तो शिष्यको गुरुविरोधि दिखाकर गुरुविरोधि शिष्यका उच्छिष्ट ग्रहण करना इन्हें स्वीकार्य है।

(घ) अद्वैतप्रकाश—इस ग्रन्थके रचयिता श्रीईशान नागर (?) हैं, ऐसा बताया जाता है। यह ग्रन्थ मूलतः श्रीअद्वैतआचार्य और उनके पुत्र श्रीअच्युतानन्दके जीवनचरित्रपर प्रकाश डालता है। अच्युतानन्दके चरित्रके प्रसंगमें ही ऐसा लिखा गया है—

तथि प्रबोधानन्द सरस्वती ख्याति। संन्यासीर मध्ये जिंह बुद्धये बृहस्पति।
बहु शास्त्रवेत्ता पण्डितेर शिखामणि। गौरांग निन्दिये तिंह हञा अभिमानी।।

* * * * * * * * * * * * * *

प्रबोधानन्दे गोरा बड़ दया कैला। शक्ति संचारिया तारे प्रेमभक्ति दिला।।
परम वैष्णव हैल श्रीप्रबोधानन्द। खण्डिल कुतर्कवाद पाइल प्रेमानन्द।।

(श्रीश्रीअद्वैतप्रकाश, १७ अध्याय, पृष्ठ १५७, सम्पादक—श्रीश्यामदास)

डा. कपूरने इस प्रसंगको भी व्रजके रसिकाचार्य पृष्ठ २३३ पर उद्धृत किया है और यह कहा है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुके समसामायिक ईशाननागरके नामसे प्रचारित 'अद्वैतप्रकाश' नामक ग्रन्थमें तो प्रकाशानन्दका परिचय ही प्रबोधानन्दके नामसे दिया गया है।

हम डा. कपूरके इतने भर विचारसे तो कतई असहमत नहीं है कि इस ग्रन्थमें ऐसा लिखा गया है। लेकिन हमलोग जरा कुछ और विचार कर लें।

इन ईशान नागरका परिचय श्रीअद्वैताचार्यके कृपापात्र और उनके गृहसेवकके रूपमें दिया जाता है। 'अद्वैतप्रकाश' नामक ग्रन्थकी समाप्ति १४९० शकाब्द (१५६९) में हुई, लेखकके अनुसार। इस ग्रन्थके विषयमें

श्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानमें लिखा गया है—

"इस ग्रन्थमें कहीं भी पाण्डित्य दिखानेकी चेष्टा नहीं की गई है। भाषा भी सरल और आडम्बरहीन है, फिर भी मधुर है। किन्तु आधुनिक माननेके कारण कुछ लोगोंका मत है कि इसका रचनाकाल सोहलवाँ शकाब्द नहीं है। इस ग्रन्थमें अद्वैतके पुत्रके सम्बन्धमें जन्म-तारीख आदि सन्दिग्ध हैं। अन्यान्य प्रामाणिक ग्रन्थोंके साथ इस ग्रन्थकी घटना-परम्परा (घटनाचक्र) की रक्षा नहीं हो पाई है।"

श्रील प्रभुपाद सरस्वती ठाकुरने भी चैतन्यचरितामृतकी भूमिकामें 'ग्रन्थका उपकरण' उपशीर्षकके अन्तर्गत इस प्रकार लिखा है—

'★ ★ ★ अन्यान्य कतिपय आधुनिक या परवर्तीकालमें लिखित ग्रन्थोंको (यथा, जयानन्दका चैतन्यमंगल, गोविन्ददासका कड़चा, वंशीशिक्षा, अद्वैतप्रकाश, नित्यानन्दवंशविस्तार प्रभृति) प्राचीन (ग्रन्थ) के रूपमें निर्देश करनेकी हमलोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है, विशेषतः उनमें तत्त्व या सिद्धान्तका विपर्यय, कुचक्र द्वारा संकीर्णता प्रतिपादन करनेका प्रयास और शिक्षाका अभाव प्रभृति लक्ष्यकर श्रीचैतन्यचरितामृतके आकर ग्रन्थके रूपमें इन अपग्रन्थोंको कोई स्वीकार नहीं करते हैं। ★ ★ ★ ★"

अतः इन दोनों प्रमाणोंके आधारपर श्रील प्रभुपादके आनुगत्यमें इस ग्रन्थको अपग्रन्थ कहनेमें हम तनिक भी द्विधा बोध नहीं करेंगे। विशेषतः श्रील प्रभुपादने स्पष्टतः लिखा है कि संकीर्णता प्रतिपादनका प्रयास इन ग्रन्थोंमें प्रचुर परिमाणमें किया गया है और इस कुचक्रमें फँसकर (अथवा इसे साथी बनाकर) डा. कपूर भी अपने कुचक्रके चक्करमें लोगोंको दिग्भ्रमित करना चाहते हैं। इन दोनों प्रमाणोंमें 'अद्वैतप्रकाश' को एक प्रामाणिक ग्रन्थ न माननेके पर्याप्त कारण उपलब्ध हैं और प्राचीन किसी आचार्योंने इसका कहीं नामोल्लेख नहीं किया है। उपरोक्त कारणोंसे ग्रन्थकी अप्रामाणिकता प्रमाणित करनेका प्रयास नहीं कर, इसे विज्ञ पाठकोंके ऊपर छोड़ा जा रहा है, अन्यथा हम मूल विषयसे बहुत दूर चले जायेंगे। हाँ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—

श्रीचैतन्यमहाप्रभु जब रामकेलि होते हुए वृन्दावन जानेके उद्देश्यसे बंगाल आये थे, उस समय अच्युतानन्द प्रभुकी आयु थी पाँच वर्ष।

पञ्च-वर्ष वयस मधुर दिगम्बर।
खेला खेलि सर्व अङ्ग धूलाय धूसर।।

(चै. भा. अ. ४/१५३)

श्रीचैतन्यभागवतका यह प्रसंग उस समयका है, जब श्रीमन्महाप्रभु रामकेलिसे लौटकर वापस नीलाचल जाते समय श्रीअद्वैत मन्दिरमें पहुँचे थे। उस समय अच्युतानन्द पाँच वर्षके बालक थे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी इस यात्राका समय है—शकाब्द १४३३-३४ तदनुसार १५१२-१३ या १५११-१२ ई. सन्।

जिस समय, शकाब्द १४३१में महाप्रभु संन्यासके पश्चात् अद्वैताचार्यके घर आये थे, उस समय भी अच्युतानन्द प्रभुका वर्णन नंग-धड़ंग छोटे शिशुके रूपमें श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने किया है—

दिगम्बर शिशुरूप अद्वैत-तनय। नाम श्रीअच्युतानन्द सर्वज्योतिर्मय।।
आसिया पड़िला गौरचन्द्र-पदतले। धूलार सहित प्रभु लइलेन कोले।।

(चै. भा. अ. १/२१३-२९६)

श्रीचैतन्य महाप्रभुका काशी आगमनका समय है—शकाब्द १४३६—३७ तदनुसार १५१४—१६। अतः श्रीचैतन्यमहाप्रभुके काशी आगमनके समय अच्युतानन्द प्रायः आठ वर्षके बालक थे। श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतमें महाप्रभुके साथ अच्युतानन्द प्रभुका भी काशीमें होनेकी गन्ध भी नहीं है। परन्तु अद्वैतप्रकाशमें जिस प्रकार इसे रंग दिया गया है और अच्युतानन्द प्रभुको महाप्रभुके साथ प्रबोधानन्दके उद्धारके समय काशीमें बताया गया है, इसे पाठक बिना अद्वैतप्रकाश पढ़े हृदयंगम नहीं कर सकते हैं। खैर मैं अधिक विस्तारमें पुनः नहीं जाकर यही कहना यथेष्ट है कि अद्वैतप्रकाश अपग्रन्थोंकी श्रणीमें अग्रणी है। डा. कपूरने प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दको एक बतानेके चक्करमें इस ग्रन्थके प्रमाणको उद्धृत कर यहाँ तक कह डाला कि ग्रन्थकारने तो प्रकाशानन्दका नाम तक नहीं लिया। उन्हें तो प्रबोधानन्द नामक मायावादी संन्यासीका ही उद्धार महाप्रभु द्वारा अभीष्ट था। अतएव प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्द एक हैं।

पाठको! अद्वैतप्रकाशकी अप्रमाणिकता तथा श्रीचैतन्यभागवत और श्रीचैतन्यचरितामृतके साथ इसकी विसंगतिके विषयमें और कुछ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। मैं डा. कपूरसे यह पूछना चाहूँगा कि अनुरागवल्लीको इसलिए उन्होंने ठुकरा दिया था कि हमारे दो अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थोंमें वह विषय वर्णित नहीं था, जो अनुरागावल्लीमें था। जबकि वहाँ विसंगति नहीं है, क्योंकि प्रबोधानन्दके सम्बन्धमें जो तथ्य (?) वहाँ लिखे

गये, वे बिल्कुल नये थे, अतः विसंगतिका प्रश्न बिल्कुल नहीं उठता है। हाँ, उन तथ्योंको स्वीकार करना या न करना व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी बात है। किन्तु डा. कपूरने उस ग्रन्थको कैसे प्रामाणिक मान लिया जिसमें इतनी बड़ी विसंगति है? इतना ही नहीं पूर्णतया विसंगतियुक्त उस प्रकरणके बाकी अंशको छुपाकर पाठकोंके सामने उतना प्रस्तुत कर दिया, जिससे पाठक अपने हृदयमें एक अपवित्र धारणा रखकर एक भगवत्परिकरके चरणोंमें आजीवन अपराधकर भक्तिराज्यसे सर्वदाके लिए च्युत हो जाय।

(५) बंगला भक्तमाल—इस ग्रन्थके लेखक हैं—कृष्णदास या लालदासजी। ये लालदासजी श्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानके अनुसार श्रीनिवास आचार्यकी परम्परामें पञ्चम अधस्तनके व्यक्ति हैं। हमने पहले ही यह वर्णन किया है कि हिन्दी भक्तमालकी टीकाके रचयिता प्रियादासजीके गुरु मनोहरदासजी श्रीनिवास आचार्यके प्रशिष्य थे। इस तथ्यके आधारपर यदि यह मानकर चलें कि हिन्दी भक्तमालके प्रचारित होनेमें कम-से-कम ३०-४० वर्ष लगे हों और तब प्रियादासजीने उसके ऊपर अपनी टीका लिखी तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः नाभादासजी और मनोहरदासजी समसामयिक हुए। मनोहरदासजी श्रीनिवास आचार्यकी परम्परामें द्वितीय अधस्तन और लाल दासजी पञ्चम अधस्तन। यदि प्रति अधस्तन ३० वर्षका औसत भी रखा जाय तो बंगला भक्तमालकी रचनाका काल हिन्दी भक्तमालसे ९०-१०० वर्ष बाद ही मानना पड़ेगा। हो सकता है यह अवधि और भी अधिक हो। मनोहर दासजीने १६१८ शकाब्द तदनुसार १६९६-९७ ई. सन् में अनुरागवल्लीकी रचना की। इसलिए बंगला भक्तमालका रचनाकाल अनुमानतः १८०० ई. सन् के आसपास माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह बंगला भक्तमाल हिन्दी भक्तमालके ही तर्जपर लिखा गया है, यह सभी एकमत होकर स्वीकार करते हैं। महाप्रभुने अप्रकट लीलाका आविष्कार किया सन् १५३४ ई. में। अतः बंगला भक्तमालकी रचना महाप्रभुके अप्रकटसे कम-से-कम २६०-७० वर्ष बाद ही हुआ। हमने पहले यह दिखा दिया है कि प्रियादासजी द्वारा टीका लिखे जाने तक प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दकी एकताकी बात वैष्णव समाजमें अवश्य ही नहीं थी। रही बात 'अद्वैतप्रकाश' की, तो हमने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि 'अद्वैतप्रकाश' ईशाननागरके नामसे आरोपित अपसिद्धान्तपरक ग्रन्थ है और उसमें ग्रन्थकी समाप्तिका जो काल लिखा गया है, वह सम्प्रदायमें संकीर्णता

उत्पन्न करनेकी एक साजिश है। अतएव यदि 'अद्वैतप्रकाश'को छोड़ दें तो बंगला भक्तमाल ही पहला ग्रन्थ है, जिसमें प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दको एक करनेकी साजिश रची गई है और इसके लिए लिखा गया है—
प्रकाशानन्द सरस्वती नाम ताँर छिल। प्रभुइ प्रबोधानन्द बलिया राखिल।।

और भी,

श्रीमान् प्रबोधानन्द नित्य सिद्ध हेन। लीला लागि एइ एक प्रभुर गठन।।

—(भक्तमाल २२ माला)

हमने प्रारम्भमें ही श्रील प्रभुपादकी इस उक्तिको उद्धृत किया है कि भक्तमाल नामक सहजिया ग्रन्थमें इस प्रकारका भ्रम-दोष प्रवेश करनेके कारण अब तकके लेखकोंमें भी यह भ्रम-दोष कमोवेश प्रवेश किया है।

अतः प्रभुपादकी इस उक्तिके साथ हमारे भी तथ्यकी संगति हुई कि बंगला भक्तमाल ही पहला ग्रन्थ है जिसमें यह अपसिद्धान्त प्रवेश हुआ है और आज तकके लेखक मुख्यतः उसका ही अनुसरण कर रहे हैं। इस विषयके सम्बन्धमें हमने पहले ही बहुत लिखा है। जहाँ तक उनकी मायावादी लीलाकी बात है, इसका विचार हम आगे अवश्य करेंगे। पाठकगण कृपया धैर्य रखें।

(च) भक्तिरत्नाकर—इस ग्रन्थके प्रणेता हैं—श्रीनरहरि चक्रवर्ती या घनश्याम दास। ये श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीके शिष्य जगन्नाथके पुत्र थे तथा इनके गुरुका नाम था श्रीनृसिंह चक्रवर्ती। इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, जिनका गौड़ीय सम्प्रदायमें समादर है। प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रीगोपालभट्टके चरित्रका वर्णन करनेके प्रसंगमें श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वतीका वर्णन अनायास ही हो गया है, क्योंकि श्रीमन्महाप्रभु द्वारा चातुर्मास्य काल श्रीव्येंकट भट्टके घरमें व्यतीत करनेके समय ही श्रीमन्महाप्रभुके साथ श्रीगोपालभट्टका प्रथम मिलन जाना जाता है और ग्रन्थकारके अनुसार श्रीसरस्वतीपाद उस समय वहाँ थे, अतः इनका वर्णन भी अनायास ही हो गया है। हमने ऊपर जितने ग्रन्थोंकी समालोचना की है, श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतको छोड़कर उनमें भक्तिरत्नाकरका आदर गौड़ीय सम्प्रदायमें सर्वाधिक है। स्वयं लेखक भी कई शास्त्रोंके विशारद थे। हो सकता है इस ग्रन्थमें वर्णित ऐतिह्य सभीको एक स्वरसे मान्य नहीं हो, परन्तु हम तो देखते हैं कि सभीने अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए इस ग्रन्थके ऐतिह्यको यथा-तथा ग्रहण किया है। किन्तु किसी किसी लेखकने प्रबोधानन्द सरस्वतीके सम्बन्धमें

विचार करते समय इस ग्रन्थकी ओरसे विल्कुल ही आँखें मूँद ली हैं।

डा. कपूरने भी व्रजके रसिकाचार्यके पृष्ठ २३१ पर ऐसा लिखा है— "भक्तिरत्नाकरमें नरहरि चक्रवर्तीने भी अनुरागवल्लीका अनुसरणकर मान लिया है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी दक्षिणयात्राके समय प्रबोधानन्द भी वहाँ थे वहाँ उन्हें उनको पूर्ण कृपा प्राप्त हुई थी—

केह कहे प्रबोधानन्देर गुण अति। सर्वत्र हइल जार ख्याति सरस्वती।।
पूर्ण व्रह्म श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्। तार प्रियता बिना स्वप्ने नाहि आन।।

(भ. र. १/१४९-१५०)

अनुरागवल्लीके लेखकने जो लिखा उसीका अनुसरण भक्तिरत्नाकरके लेखकने किया, यह युक्ति अत्यन्त असंगत है। डा. कपूर यह माननेके लिए बाध्य कर रहे हैं कि प्रबोधानन्द और महाप्रभुका मिलन श्रीरंगम्में नहीं हुआ था। हमने यह सिद्ध किया है कि उस समय तक प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दके एक ही व्यक्ति होनेकी भनक भी नहीं थी। यह तो आरम्भ हुआ मुख्यतः बंगला भक्तमालके द्वारा। अतः डा. कपूर यही क्यों नहीं मान लेते हैं कि उस समय वैष्णव समाजमें यही बात प्रचलनमें थी कि महाप्रभु जब दक्षिण गये, तब श्रीप्रबोधानन्दके साथ उनकी भेंट हुई और परवर्तीकालमें श्रीप्रबोधानन्द वृन्दावन आये। इसी मान्यताके आधारपर अनुरागवल्ली और भक्तिरत्नाकरके लेखकोंने अपनी-अपनी बातें कही हैं। डा. कपूरने जो यह कहा कि भक्तिरत्नाकरके लेखकने अनुरागवल्लीके लेखकका अनुसरण किया वह सरासर गलत है। अनुरागवल्लीमें श्रीप्रबोधानन्दसे सम्बन्धित और भी कितनी ही भ्रामक बातें हैं। यदि भक्तिरत्नाकरके लेखकने अनुसरण किया होता, तो उन सभी बातोंको वे स्वीकार कर लेते, यथा—प्रबोधानन्द सरस्वती नहीं प्रबोधानन्द भट्ट नाम था गोपाल भट्टके पितृव्य का; तीनों भाइयोंमें व्येंकट्ट भट्ट ही बड़े थे, तिरुमलय नहीं; प्रबोधानन्दके भी स्त्री थी; सभी परिवारी लोगोंके सिद्ध हो जानेके बाद (परलोक गमनके बाद) गोपाल भट्ट वृन्दावन आ गये, इत्यादि। किन्तु भक्तिरत्नाकरके लेखकने इन तथ्योंको बिल्कुल स्वीकार नहीं किया है। विशेष जानकारी तो पाठक दोनों ग्रन्थोंका पाठ करके ही प्राप्त कर सकते हैं।

डा. कपूरको तब भी दोनों ग्रन्थोंके तथ्योंमें कुछ और समानताएँ दीख पड़ी हैं। उन्होंने और भी लिखा है—

यदि अनुरागवल्लीका यह विवरण [कि सबका समाधानकर गोपाल भट्ट

वृन्दावन आ गये] सत्य है, तो मानना होगा कि काशीवासी प्रकाशानन्द सरस्वती और गोपाल भट्टके पितृव्य प्रबोधानन्द सरस्वती दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। तब प्रबोधानन्दका चरित्र भी श्रीरंगम्‌में महाप्रभुसे उनकी भेंटके साथ समाप्त कर देना होगा, क्योंकि इसके बाद प्रबोधानन्दका क्या हुआ, इस सम्बन्धमें मनोहरदास और नरहरि चक्रवर्तीने कुछ नहीं लिखा। यदि किसी प्रकार उनका सम्बन्ध प्रकाशानन्द सरस्वतीसे जोड़नेकी चेष्टा की जायेगी, तो यह बहुत कठिन होगा। महाप्रभुकी कृपा लाभ करनेके पश्चात् उनका मायावादी संन्यासी हो जाना और फिरसे उनकी कृपा प्राप्तकर चैतन्यचन्द्रोदयादि ग्रन्थोंकी रचना करनेकी कल्पना करना नितान्त असंगत होगा।"

पाठको! उपर्युक्त पंक्तियोंको पढ़कर आप सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि डा. कपूर पहले से ही दोनोंके एक होनेके दुराग्रहसे किस प्रकार दृष्टिहीन हो चुके हैं। यह जो आप कह रहे हैं कि इन-इन कारणोंसे समस्या अत्यन्त उलझ जायेगी, तो यह आपकी अपनी ही फसल है। आप दोनोंको एक माननेपर तुले हुए ही क्यों हैं? दोनोंको अलग-अलग चरित्र माननेसे आपके ऊपर कौन-सी गाज गिर जायेगी। इन्हीं कारणोंसे आपकी दृष्टिशक्ति नष्टप्राय हो गयी है, क्योंकि आपने लिखा है कि नरहरि चक्रवर्तीने भी महाप्रभुसे मिलनके बाद प्रकाशानन्दका क्या हुआ इसके बारेमें कुछ नहीं कहा है। परन्तु आपकी जानकारीके लिए यह बता दूँ कि वहाँ गोपाल भट्टका ही चरित्र प्रमुख है, न कि प्रबोधानन्दका, किन्तु तब भी उन्होंने कुछ-न-कुछ तो प्रबोधानन्दके परवर्ती जीवनका ईंगित दे ही दिया है—

परम वैराग्य स्नेहमूर्ति मनोरम। महाकवि गीतवाद्य नृत्ये अनुपम।।
या'र काव्य शुनि सुख बाड़ये सबार। प्रबोधानन्देर महा-महिमा अपार।।

क्या अब भी आप यह कहेंगें कि महाप्रभुसे मिलनके पश्चात् प्रबोधानन्दका क्या हुआ, इस विषयमें नरहरि चक्रवर्ती खामोश हैं, अतः प्रबोधानन्दका मिलन महाप्रभुके साथ हुआ—यह मान लेनेपर समस्याओंकी बाढ़ आ जायेगी। तथ्य अत्यन्त सरल है, महाप्रभु प्रबोधानन्दसे मिले, उनपर कृपा की, जिसके फलस्वरूप उनका वृन्दावन वास हुआ जहाँ उन्होंने काव्य आदिकी रचनाएँ कीं, जो सबको आनन्ददायक हुई। क्या अब भी आप कहेंगे कि नरहरि चक्रवर्तीने मनोहर दासका जूठन खाया। पाठको! 'व्रजके रसिकाचार्य' में गोपाल भट्टका चरित्र लिखते समय लेखकने भक्तिरत्नाकरको ही सबसे

प्रधान उपादानके रूपमें ग्रहण किया है और सारी बातें लिखी हैं। फिर यहाँ भी भक्तिरत्नाकरके तथ्योंको क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हैं। जो भी समस्या है, उनकी अपनी बनाई हुई है।

जैसा कि डा. कपूरने अनुरागवल्लीके आधारपर सम्भावना व्यक्त की है कि प्रकाशानन्द और गोपालभट्टके श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं, वह बिल्कुल सत्य है। किन्तु अनुरागवल्लीके बाकी सभी तत्थ बिल्कुल गलत हैं, क्योंकि जब श्रीरंगम्‌वासी प्रबोधानन्दका कोई काव्य ही प्राप्त नहीं होता, तो लोगोंको उनसे सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना ही कहाँ है? अतः न तो भक्तिरत्नाकरकार ने अनुरागवल्लीका अनुसरण किया और न ही प्रबोधानन्द भट्टका समाधानकर गोपाल भट्ट वृन्दावन आये, जैसा कि अनुरागवल्लीमें लिखा गया है।

अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि नरहरि चक्रवर्तीने जो कुछ लिखा, वही उस समय तक शुद्ध वैष्णव समाजमें प्रचलित था।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी कुछ ग्रन्थ हैं, जिनमें किसी अन्य प्रसंगमें ही प्रबोधानन्दका नामोल्लेख हुआ है

(६) साधन दीपिका—इसके लेखक हैं श्रीगोपालभट्टके समसामयिक श्रीगोविन्ददेवजी मन्दिरके अधिकारी श्रीहरिदास पण्डित गोस्वामीके शिष्य श्रीराधाकृष्ण गोस्वामी। साधन दीपिकामें वर्णन है—

श्रीमद्‌प्रबोधानन्दस्य भातुष्पुत्रकृपालयम्।
श्रीमद्‌गोपालभट्टं तं नौमि श्रीव्रजवासिनम्।।

अर्थात् मैं श्रीप्रबोधानन्दके भ्रातुष्पुत्र (भतीजे) कृपाके सागर व्रजवासी उन श्रीगोपालभट्टको प्रणाम करता हूँ। इस श्लोकसे इतना तो अवश्य पता चलता है कि श्रीगोपाल भट्ट श्रीप्रबोधानन्दके भ्रातुष्पुत्र थे, परन्तु प्रबोधानन्दके जीवनचरित्रका इससे कुछ भी पता नहीं चलता। तो भी यदि निरपेक्ष रूपसे विचार करें तो अन्तःकरणसे यही स्वर उभरेगा कि चाचा-भतीजेका सम्बन्ध सर्वदा ही सामान्य बना रहा होगा, इसीलिए लेखकने गोपालभट्टका परिचय ही श्रीप्रबोधानन्दके भतीजेके रूपमें दिया, न कि चाचाके मायावादी होनेके कारण बीचमें उनका सम्बन्ध टूट गया होगा। अन्यथा लेखक भी कुछ-न-कुछ वैसा विशेषण श्रीप्रबोधानन्दके लिए प्रयोगमें लाते। आखिरकार सभी प्राचीन लेखक एक-के-बाद एक इस विषयमें मौन धारण क्यों किये हुए हैं? स्पष्ट है दोनों चरित्र बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। किन्तु आधुनिक सहजिया लेखकगण

मेढ़ककी भाँति टर्र-टर्र कर एक तो श्रीप्रबोधानन्दके चरणोंमें अपराध कर ही रहे हैं, इन पूर्व आचार्योंकी बातोंका भी खुला उल्लंघन रहे हैं।

(ज) श्रीजीव गोस्वामी—इन्होंने भी श्रीप्रबोधानन्दको प्रणाम करते हुए लिखा है—

प्रबोधानन्दसरस्वतीं वन्दे विमला यया मुदा।
चन्द्रामृतं रचितं यच्छिष्यो गोपालभट्टः।।

अर्थात् मैं प्रबोधानन्द सरस्वतीकी वन्दना करता हूँ, जिन्होंने [चैतन्य] चन्द्रामृतकी रचना की और जिनके शिष्य गोपालभट्ट हैं। यहाँ भी श्रीजीव गोस्वामीके श्लोकसे यही ध्वनित होता है कि गुरु—श्रीप्रबोधानन्द और शिष्य—श्रीगोपालभट्टका सम्बन्ध सर्वदा ही सामान्य गुरु-शिष्यकी भाँति मधुर ही रहा है, न कि एकके मायावादी और एकके भक्त हो जानेके कारण कभी उनके सम्बन्धमें कटुता आ गई थी। अन्यथा जीव गोस्वामी भी कुछ तो ईंगित करते। अखिर आप भी चुप क्यों हैं?

(झ) हरिभक्तिविलास—इस ग्रन्थके मंगलाचरणमें श्रीगोपाल भट्टके द्वारा स्वयं ही लिखा गया है—

भक्तोर्विलासांश्चिनुते प्रबोधानन्दस्य शिष्यो भगवत्प्रियस्य।
गोपालभट्टो रघुनाथदासं सन्तोषन् रूपसनातनौ च।।

अर्थात् भगवत्प्रिय श्रीप्रबोधानन्दका शिष्य गोपालभट्ट श्रीरूप, सनातन और रघुनाथदासकी संतुष्टिके लिए भक्तिके विलासोंका चयन कर रहा है।

जब स्वयं श्रीगोपालभट्टने ही प्रबोधानन्दको अपना गुरु स्वीकार किया है, तब तो इस विषयमें किसीको आपत्ति हो ही नहीं सकती। श्रीसनातन गोस्वामीने भी 'भगवत्प्रिय' शब्दकी व्याख्या करते हुए इस श्लोककी टीकामें लिखा है—जो चैतन्य महाप्रभुके प्रिय हैं। अब एक प्रश्न उठता है कि महाप्रभुके साथ इनकी प्रियताका क्या अर्थ है? हमारा तो विचार है कि 'प्रियता'का अर्थ है—नित्य प्रिय अर्थात् जो सब दिन महाप्रभुके प्रिय थे, कभी महाप्रभुके विरोधी नहीं थे। यदि यह प्रियता विरोधिताके बाद उत्पन्न हुई होती तो श्रीसनातन गोस्वामी भी अवश्य ही इस विषयमें संकेत कर देते। क्योंकि टीकाकारका उद्देश्य ही होता है, ऐसे किसी भी विषयको स्पष्ट कर देना जो मूलमें अस्पष्ट हो। क्योंकि श्रीसनातन गोस्वामीको भी प्रबोधानन्दका प्रकाशानन्द होना अभीष्ट नहीं, अतः उन्होंने भी इस विषयकी ओर भ्रूक्षेप नहीं किया। क्या सभी पूर्वाचार्योंको यह सोचकर लज्जा आती

थी कि प्रबोधानन्दके साथ प्रकाशानन्दके जीवनसम्बन्धी कुछ विशेषण जोड़ देनेसे उनकी जग हँसाई हो जायेगी। तब तो श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने सरे-आम उनको नंगा कर दिया, ऐसा मानना पड़ेगा। नहीं, हमारे गोस्वामियोंने जो लिखा उसका एक ही कारण था कि दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे, किन्तु ये अर्वाचीन लेखकगण प्रबोधानन्दको बलात् नंगा करनेसे बाज नहीं आ रहे।

जब श्रीगोपालभट्टने श्रीप्रबोधानन्दको स्पष्टतः गुरुके रूपमें निर्देश किया है, तो मानना यही पड़ेगा कि श्रीप्रबोधानन्द ही इनके दीक्षा गुरु थे। वृन्दावन आकर श्रीप्रबोधानन्दसे दीक्षामन्त्र ग्रहण करनेकी बात तो गौड़ीय वैष्णव समाजमें बिल्कुल ही नहीं है। अतएव गृहत्यागसे पूर्व ही श्रीगोपालभट्टने इनसे दीक्षा ग्रहण की। यदि श्रीप्रबोधानन्द पूर्व जीवनमें मायावादी संन्यासी थे, तो गोपालभट्टने किनसे वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की?

एक बात तो स्पष्ट है कि श्रीप्रबोधानन्द श्रीगोपालभट्टके गुरु थे। किन्तु उन दोनोंका गुरु-शिष्यका सम्बन्ध कब हुआ, जरा इस विषय पर विचार कर लें, तो दूध-का-दूध और पानी-का-पानी हो जायेगा।

यदि प्रश्न करें कि क्या श्रीगोपालभट्ट श्रीरंगम्से एक मूर्ख व्यक्तिकी तरह वृन्दावन आये थे, तो एक स्वरसे उत्तर मिलेगा—नहीं। अन्यथा वृन्दावन आकर उनके शास्त्राध्ययनकी बात कहीं लिखी होती। किन्तु ऐसा नहीं है। यह श्रुतिसिद्ध साम्प्रदायिक तथ्य है कि श्रीगोपालभट्ट पहलेसे ही विद्वान् होकर वृन्दावन आये थे। वृन्दावनमें आकर गोपालभट्टने क्या किया, यह दूसरा प्रश्न है। क्या उन्होंने वृन्दावनमें श्रीप्रबोधानन्दको अपना गुरु बनाया? उत्तर सीधा है—नहीं। क्योंकि श्रीमहाप्रभुने पहले ही श्रीरूप-सनातनको यह आदेश दे रखा था कि गोपाल वृन्दावन आयेगा, तुम दोनों उसे अपना अनुज समझकर उसका लालन-पालन करना। इस उपरोक्त तथ्यका उल्लंघन आज तक किसी लेखकने नहीं किया है और यदि कोई आज इसे पढ़कर ऐसा सोचना आरम्भ कर दे, तो उनकी इच्छा। यह भी श्रुतिसिद्ध साम्प्रदायिक तथ्य है कि श्रीरूप-सनातनके आनुगत्यमें रहकर ही श्रीगोपालभट्टने भजन-साधन किया। वृन्दावनमें श्रीरूप-सनातनकी अपेक्षा श्रीप्रबोधानन्दके साथ इनकी घनिष्ठताकी बात नहीं सुनी जाती है। श्रीभक्तिरत्नाकरमें इसका विषद विवरण है। फिर डा. कपूरने जो यह लिखा है कि श्रीप्रबोधानन्दने ही श्रीगोपालभट्टको श्रीरूप-सनातनके हाथमें सौंपा, उचित नहीं जान पड़ता।

जो भी हो किसीने भी यह आज तक नहीं लिखा है कि श्रीप्रबोधानन्द गोपालभट्टके गुरु वृन्दावनमें हुए। सभी ये स्वीकार करते हैं कि पूर्वाश्रममें ही श्रीप्रबोधानन्दने गोपालभट्टको शास्त्रोंका अध्ययन कराया।

पहले अभी श्रीगोपालभट्टकी उस आयुका निरूपण कर लें, जिस आयुमें श्रीमहाप्रभुके साथ उनका प्रथम मिला था। मैं समझता हूँ कि पाठकगण डा. कपूरकृत व्रजके रसिकाचार्यमें ही इसका विवेचन पृष्ठ २४६ पर देख लें। वहाँ कुछ शोधकर्ताओंका मत प्रदर्शित करते हुए उन्होंने श्रीगोपालभट्टकी उस आयुका निर्धारण १०-१२ वर्ष किया है। हम श्रीगोपालभट्टकी वह आयु १० वर्ष मान रहे हैं। चूँकि डा. कपूरने शोधकर्ताओंकी अपेक्षा श्रीमुरारिगुप्तके कड़चेको वरीयता दी है और वहाँ गोपालभट्टको बालक कहा गया है, अतएव उन्हें किसी भी हालमें किशोरसे छोटा मानना ही संगत होगा। इसीलिए हमने भी गोपालभट्टकी वह आयु १० सालकी मान ली। अब जरा और विचार करें कि श्रीनिमाई पण्डित जब प्रकाशानन्दके प्रति क्रोध करते हुए मुरारिगुप्तसे कुछ कह रहे हैं, तो यह घटना महाप्रभुके संन्याससे कितने वर्ष पहलेकी है। मैं समझता हूँ कि यदि गोपाल भट्टके साथ मिलन और प्रकाशानन्दके प्रति क्रोध व्यक्त करनेका अन्तर अनुमानतः ४ वर्ष भी मान लें [श्रीप्रभुपादने भी इसे १४२५-३० शकाब्दके बीच बताया है अर्थात् गोपालभट्टसे मिलनेसे ३से ८वर्षके बीच] तो किसीको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थात् प्रकाशानन्दके प्रति क्रोध करनेके समय गोपालभट्ट ६ वर्षके हुए। जिस समय प्रकाशानन्दके प्रति श्रीमहाप्रभुने क्रोध प्रदर्शनकी लीला की, उस समय वे काशीके सबसे प्रभावशाली संन्यासी थे और संन्यासियोंमें वे अग्रणी थे। जब यह कहा जाता है कि प्रकाशानन्द हजारों संन्यासियोंके गुरु थे, तो वैष्णव बननेसे मात्र प्रायः ६ वर्ष पहले उनके अन्ततः कुछ हजार शिष्य तो अवश्य होंगे। पाठको! आप क्या सोचते हैं कि काशीका सर्वश्रेष्ठ संन्यासी, हजारों शिष्योंका गुरु, इतनी ख्याति—इन सब चीजोंमें क्या उन्हें अन्ततः ५ वर्षका भी समय नहीं लगा होगा। क्या प्रकाशानन्दके काशी आनेसे पहले काशीकी भूमि मायावादियोंसे विहीन थी, जो प्रकाशानन्दके आते ही उसे वह राजसिंहासन सौंप दिया गया। चलिए, हमने इसे भी मान लिया। माना कि प्रकाशानन्दकी ख्याति इतनी हो गई थी [यद्यपि ख्याति प्राप्त करनेमें ही कई वर्षोंका समय लग जाता है] कि प्रति दिन एक व्यक्ति उनका शिष्य होने लगा था। इस हिसाब से

१००० शिष्य बनाने में भी करीब ढाई वर्ष लगेंगे। माना कि उस समय उनके कम-से-कम २,००० शिष्य थे, जब महाप्रभुने उसके प्रति क्रोधका प्रदर्शन किया तो, यह अवधि कम-से-कम ५ वर्ष की हुई। अतएव इस गणनाके अनुसार प्रकाशानन्दने तबसे ५ वर्ष पहले संन्यास ग्रहण किया, यह मानते हुए कि संन्यास ग्रहण करनेके अगले दिनसे या सम्भवतः इसी दिनसे उसने शिष्य बनाना शुरु कर दिया। खैर जो भी हो, प्रकाशानन्दके संन्यासके समय हमारे श्रीगोपालभट्ट हुए १ वर्ष के। प्रकाशानन्दने मायावादी संन्यास कहाँ लिया, इसका वर्णन तो कहीं भी प्राप्त नहीं होता है, इसीलिए हम यह मान लेते हैं कि उनका संन्यास काशीमें ही हुआ। क्योंकि काशी ही उनकी कार्यस्थली थी। श्रीरंगम्‌में तो मायावादी संन्यासका प्रश्न ही नहीं उठता है। अतएव श्रीरंगम् छोड़कर काशी आनेमें यदि १ वर्षका समय मान लें, तो आपलोगोंको कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि साधु तो भ्रमण करते हुए और तीर्थोंके दर्शन करते हुए ही एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाते थे। यही परम्परा रही है। विशेषकर जब पहले आवागमनका साधन नहीं था, तब तो ऐसा ही होता था। अतएव व्येंकट भट्टके अनुजने जब गृहत्याग किया, तब गोपाल भट्टकी आयु हुई १ घटाव १ अर्थात् शून्य। माने यह कि या तो वे उस समय माँके गर्भमें थे या नवजात थे। अब शास्त्रोंके सर्वांगीण अध्ययनमें आप कम-से-कम पाँच वर्षका तो समय देंगे ही। वैदिक परम्पराके अनुसार यज्ञोपवीतके बाद ही वेदादि शास्त्रोंका अध्ययन प्रारम्भ होता है, वैदिक रीतिके अनुसार आठ वर्षसे पहले ब्राह्मणोंका यज्ञोपवीत भी नहीं होता। अतः पाठक हमें बतावें कि यदि प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दको हम एक व्यक्ति मान लें, तो प्रबोधानन्द गोपालभट्टके गुरु कब हुए?

अतः यहाँ आकर दूध-का-दूध और पानी-का-पानी हो जाता है। श्रीप्रबोधानन्द श्रीगोपाल भट्टके गुरु तो हैं। किन्तु गुरु वे न तो वृन्दावन जानेके बाद हुए और न ही काशी जानेके पहले। अतः हम यह मानने के लिए बाध्य हैं कि महाप्रभुके व्येंकटभट्टके घर रहनेके समय श्रीप्रबोधानन्द श्रीरंगम्‌में ही थे। महाप्रभुके जानेके बाद उन्होंने गोपाल भट्टको शास्त्रोंमें पारंगत कराया। हो सकता है कि महाप्रभुके श्रीरंगम् आनेके कुछ दिन पहलेसे ही उन्होंने पढ़ाना आरम्भ किया हो। किन्तु किसी भी प्रकार कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता है कि गोपालभट्टको शास्त्रोंमें पारंगत करानेके

बाद उन्होंने काशीकी शरण ली। यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी गई है। यदि गौरसे विचार करें तो आप पायेंगे कि प्रकाशानन्दकी काशीमें अवस्थिति गोपालभट्टके जन्मके बहुत पहले ही सिद्ध होती है, तब भी हमने जो गणना ऊपर दी है, वह केवल विचारके लिए है। अतएव जो काशीके प्रकाशानन्द हैं, वे कालगणनाके अनुसार किसी भी प्रकार गोपाल भट्टके गुरु नहीं हो सकते। अतएव गोपाल भट्टके गुरु प्रबोधानन्द और काशीके प्रबोधानन्द (?) एक व्यक्ति नहीं हैं।

(ञ) गौरगणोद्देश दीपिका—यह कविकर्णपूर द्वारा रचित ग्रन्थ है, जिसमें श्रीप्रबोधानन्दका व्रजका स्वरूप तुंगविद्या सखीके रूपमें दिया गया है, जिसका वर्णन हमने पहले कर दिया है। इस विषयमें किसीका मतभेद नहीं है। प्रश्न फिर वही आता है कि शायद श्रीकर्णपूर भी इस विषयमें थोड़ा निर्देश दे देते, परन्तु इन्होंने भी इस ओर भ्रूक्षेप नहीं किया है।

(ट) आनन्दीकृत श्रीचैतन्यचन्द्रामृतकी टीका—इसमें उन्होंने श्रीप्रबोधानन्दको काशीवासी मायावादी संन्यासी बताया है। इस टीकाकी रचना १६४५ शकाब्द तदनुसार १७२३-२४ ई. सन् में हुई। यह संस्कृतकी एकमात्र रचना है, जिसमें श्रीप्रबोधानन्दको काशीवासी संन्यासी बताया गया है, चैतन्यचन्द्रामृतके श्लोकके आधार पर। बंगला भक्तमालकी रचना निश्चय ही इसके बाद हुई है। हो सकता है लाल दासका भी प्रेरणा स्रोत यही ग्रन्थ रहा हो। किन्तु चूँकि यह संस्कृत भाषामें है, इसलिए साधारण लोगोंसे यह दूर ही रहा होगा। अतः बंगला भक्तमाल ही वह ग्रन्थ है, जिसने साधारण जनमानसमें यह अपसिद्धान्त प्रवेश करानेकी चेष्टा की है। केवल संस्कृतमें लिखे जाने मात्रसे ही यह ग्रन्थ प्रामाणिक हो गया, ऐसा मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी। विशेषतः यह सिद्ध कर देनेके बाद कि काशीवासी संन्यासी किसी भी प्रकारसे गोपाल भट्टके गुरु नहीं हो सकते। अतः टीकाकारका ऐसा मानना भूल ही है। हो सकता है कि भक्तिरत्नाकरकी रचना भी इस टीकाके बाद ही हुई हो, परन्तु वहाँ इस विचारकी गन्ध नहीं है।

(ठ) इस ग्रन्थोंके अतिरिक्त स्वयं श्रीपाद प्रबोधानन्द द्वारा रचित श्रीचैतन्यचन्द्रामृत और श्रीराधारससुधानिधिके श्लोकोंके आधार पर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की जाती रही है कि प्रबोधानन्द ही पहले प्रकाशानन्द थे।

अब मैं यहाँ श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके विषयमें विरोधी लोगोंकी जो धारणाएँ हैं, उनका वर्गीकरणकर उन विचारोंके पोषक लेखकोंकी समीक्षामें

प्रवृत्त हो रहा हूँ।

(१) श्रीप्रबोधानन्द ही श्रीप्रकाशानन्द हैं; ये दोनों ही नाम एक ही व्यक्तिके हैं और ये हैं श्रीगोपाल भट्टके पितृव्य—इस विचारके पोषक वर्तमान कालमें हैं—श्रीश्यामदासजी एवं श्रीअवधविहारी लाल कपूर।

श्रीश्यामदासजीने दोनों व्यक्तियोंको एक माना है, परन्तु उन पक्षोंको बिल्कुल ही छोड़ दिया है, जो विरोधाभास उत्पन्न करते हैं। महाप्रभुके श्रीरंगम्‌में रहते समय ये वहाँ थे या नहीं इन विचारोंको बिल्कुल नहीं छूकर पतली गलीसे निकलनेकी चेष्टा की है।

श्रीअवधविहारी लाल कपूरने प्रायः सभी पक्ष और प्रमाणोंको कुरेदनेकी चेष्टा की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों व्यक्ति एक ही हैं।

(२) प्रबोधानन्द और प्रकाशानन्द दो व्यक्ति हैं। प्रबोधानन्द गोपाल भट्टके पितृव्य अवश्य थे, परन्तु गौड़ीय साहित्यकी रचना करनेवाले प्रबोधानन्द गोपाल भट्टके पितृव्य नहीं हैं। बल्कि प्रकाशानन्दका भी दूसरा नाम प्रबोधानन्द है। अतः प्रबोधानन्द नामक दो स्वतन्त्र व्यक्ति हुए।—इस विचारके पोषक हैं कालियह्रद निवासी श्रीहरिदास शास्त्री।

अब मैं एक-एक कर इन लेखकोंकी समीक्षामें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

(१) श्रीश्यामदास हकीम

श्रीश्यामदासजी ने स्वसम्पादित श्रीचैतन्यचन्द्रामृतकी भूमिकामें लिखा है कि श्रीप्रबोधानन्दने गौरनिष्ठा प्रधान इस ग्रन्थकी रचना काशीमें ही की और रचनाकाल था संवत् १५६०-६१। इसी भूमिकामें इन्होंने और भी लिखा है कि श्रीगौरांगकी कृपा प्राप्त कर सरस्वतीपादको काशी गांसीकी तरह हृदयमें चुभने लगी। श्रीमहाप्रभुके नीलाचल चले जानेके बाद संवत् १५७०-७१ में श्रीवृन्दावनमें चले आये।

अतएव इस ग्रन्थमें आपका यह विचार है कि महाप्रभु संवत् १५६०-६१ में काशी आये। उनके नीलाचल वापस जानेके बाद प्रकाशानन्द १० वर्षों तक काशीमें और रहे, तत्पश्चात् वृन्दावन चले आए। पाठको! पहली बात तो यह कि श्रीमहाप्रभु १५७० के आस-पास काशी गये थे, १५६० के आस-पास नहीं। अतः लेखकने इस सर्वप्रमाणित तथ्यको इस प्रकार विकृत कर क्यों लिखा? यदि कहें कि यहाँ भूल हो गयी है, तो यह भी स्वीकार्य नहीं, है क्योंकि लेखक यही दिखाना चाहते हैं कि महाप्रभुके

नीलाचल वापस जानेके बाद प्रकाशानन्द १० वर्षों तक काशीमें रहे और उन्होंने श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ग्रन्थकी रचना की। तत्पश्चात् वे वृन्दावन आये, क्योंकि काशी उन्हें तब तक गांसीकी भाँति चुभने लगी थी। अतः सीधी-सरल बात है, ये पाठकोंको गुमराह करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

लेखकने स्वयं ही स्वसम्पादित श्रीवृन्दावन महिमामृतमें और श्रीचैतन्य भक्तगाथामें यह लिखा है कि श्रीमहाप्रभुका काशीमें आगमन सम्वत् १५७०-७१में हुआ। किन्तु श्रीवृन्दावन महिमामृतमें इन्होंने लिखा है कि जिस समय श्रीमहाप्रभु नीलाचलकी ओर बढ़े, ये भी उसी समय (सम्वत् १५७१-७२ में) श्रीवृन्दावनकी ओर चल दिए। इसी ग्रन्थमें यह भी लिखा गया है कि श्रीमन्महाप्रभुने जब काशीसे नीलाचल जानेका निश्चय किया तब श्रीसरस्वतीपादने रातके समय महाप्रभुके निकट जाकर प्रार्थना की कि उन्हें भी महाप्रभु अपने साथ नीलाचल चलनेकी आज्ञा दें। कारण कि उनका विरह उनसे सहन नहीं होगा।

इतना होनेके बाद प्रश्न उठता है कि श्रीचैतन्यचन्द्रमृतकी रचना कब हुई? जब श्रीमहाप्रभुके नीलाचलकी ओर प्रस्थान करनेके साथ-साथ ही ये भी वृन्दावनकी ओर बढ़े तो ग्रन्थ रचना कब की? इसका अर्थ हुआ महाप्रभुके काशीमें रहते समय ही इस ग्रन्थकी रचना हुई, जो अत्यन्त अप्रामाणिक बात है। लेखककी कल्पनाके उड़ानके अतिरिक्त इस थोथी बातमें कोई दम नहीं है। लेखक द्वारा स्वयं सम्पादित ग्रन्थोंके विचारमें ही इतना बड़ा भेद है, तो अन्य सिद्धान्तोंकी प्रामाणिकताके विषयमें क्या कहा जाय?

श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २५/१७०) में स्पष्ट वर्णन है कि महाप्रभुने पाँच दिन ही काशीमें अवस्थान किया और पाचवीं रात्रिके अवसानके समय अर्थात् छठे दिन तड़के काशीको छोड़ दिया। फिर प्रकाशानन्दने श्रीचैतन्यचन्द्रामृतकी रचना कब कर दी? जब कि वे स्वयं महाप्रभुके जानेके साथ ही काशीसे वृन्दावनकी ओर चल पड़े।

एइ मत दिन पञ्च लोक निस्तारिया। आर दिन चलिला प्रभु उद्विग्न हइया।
राते उठि प्रभु यदि करिला गमन। पाछे लाग् लइला तबे भक्त पञ्चजन।।

इसी ग्रन्थमें आपने यह भी लिखा है कि अपने गाँवमें भजनकी सुविधा न देखकर वे रंगक्षेत्र (मैसूर-प्रदेश) में कावेरी नदीके किनारे बेलङ्गुरीमें सपरिवार निवास करने लगे। पाठको! यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि

लेखक महोदयका भूगोल काफी कमजोर है। श्रीरंगम् मैसूर प्रदेशके अन्तर्गत नहीं आता है, यह तमिल प्रान्तमें आता है। तीनों भाइयोंका जो क्रम इन्होंने बताया है, वह भी सर्वप्रामाणिक नहीं है, इसमें लेखक महोदयने अनुरागवल्लीका अनुसरण किया है। इनके अनुसार व्यंकट भट्ट ज्येष्ठ और त्रिमल्ल भट्ट मध्यम भ्राता हैं। परन्तु, सिवाय इस तथ्यके कि महाप्रभुके समय प्रबोधानन्द भी श्रीरंगम्में थे, अनुरागवल्लीके अन्य तथ्य अत्यन्त भ्रामक हैं।

इसके अतिरिक्त 'निष्ठां प्राप्ता' (श्रीचैतन्यचन्द्रामृत ६०) और 'स जयति गौरपयोधि' (श्रीराधारससुधानिधि) आदि श्लोकोंके आधारपर भी प्रबोधानन्दको पूर्वजीवनमें मायावादी बतानेकी चेष्टा की है।

आपने और भी एक बात लिखी है कि श्रीप्रकाशानन्दका वृन्दावन आगमन श्रीरूप-सनातनसे पहले हुआ। पहली बात तो यह कि प्रकाशानन्दको श्रीमहाप्रभुने वृन्दावन आनेकी आज्ञा दी, यह किसी प्रामाणिक ग्रन्थमें नहीं है। हाँ सनातन गोस्वामीको वृन्दावन जानेका आदेश दिया, यह तो श्रीचैतन्यचरितामृतमें स्पष्ट वर्णित है—

लोक निस्तारिया प्रभुर चलिते हैल मन। वृन्दावने पाठाइला श्रीसनातन।।

(चै. च. आ. ७/१६०)

सनातने कहिला—"तुमि याह' वृन्दावन। तोमार दुई भाई तथा कैराछे गमन।।"

(चै. च. म. २५/१७५)

और सनातन गोस्वामी भी महाप्रभुके जानेके साथ ही वृन्दावन चल दिये—

कत क्षणे उठि, सब दुःखे घरे आइला। सनातन गोसाञि वृन्दावनेरे चलिला।।

अतएव यदि प्रकाशान्दको भी वृन्दावन आनेका आदेश दिया जाता और प्रकाशानन्द भी तत्काल ही काशीसे वृन्दावन चल दिये होते, तो यह प्रसंग श्रीचैतन्यचरितामृतमें अवश्य होना चाहिए था। यदि कहो कि प्रबोधानन्दने निषेध कर रखा था इसीलिए नहीं दिया, तो यह तो बेकार बात है। क्योंकि कृष्णदास कविराज गोस्वामी उन्हीं प्रबोधानन्द (?) (प्रकाशानन्द) का पूरा विवरण दे रहे हैं।

श्रीरूप गोस्वामी तो सनातन गोस्वामीसे भी पहले वृन्दावन आये थे और पुनः गौड़ देश होते नीलाचल गये थे। यदि विचारके लिए मान भी लें कि प्रकाशानन्द और सनातन गोस्वामी एक ही समय वृन्दावनसे चले [जबकि यह भी गलत है, यदि प्रकाशानन्द चला भी हो तो सनातन गोस्वामीके

बाद ही चला होगा, क्योंकि महाप्रभुने रातमें ही काशी छोड़ दी और इसकी जानकारी प्रकाशानन्दको नहीं थी, सनातन गोस्वामी तो साथ-ही-साथ काशी छोड़कर चल पड़े], तो हो सकता है सनातन गोस्वामी कछुए की चालसे चले और प्रकाशानन्द खरहे की चालसे, इसीलिए वे पहले वृन्दावन पहुँचे। रूप गोस्वामी तो कई दिन पहले ही वृन्दावन पहुँच चुके थे।

अतः पाठको! किस प्रकार आपलोगोंको दिग्भ्रमितकर अपराधी बनानेकी कुचेष्टा की जा रही है, इसका मैंने दिग्दर्शन मात्र कराया। बाकी जो अतिश्रृंगारिक वर्णन है, यह तो आप उनके ग्रन्थसे पढ़ ही सकते हैं।

(२) डा. अवधबिहारी लाल कपूर

पाठको! डा. कपूरकी बातोंका विस्तारपूर्वक विश्लेषण पहले आये प्रसंगोंमें हुआ है। उन प्रसंगोंके अतिरिक्त जो बातें रह गई हैं, यहाँ उसीका विचार किया जायेगा।

आपने भी श्रीराधारससुधानिधिके श्लोकके आधार पर प्रकाशानन्दको ही प्रबोधानन्द बताया है। श्रीचैतन्यचन्द्रामृतके श्लोक संख्या ४७, १९, ३२, ४२, और ५२ के आधार भी पर भी आपने भी इन्हें मायावादी संन्यासी बताया है। विशेषतः श्लोक ४७ को तो आपने स्पष्ट प्रमाण ही माना है।

आपने कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठाये हैं, जिसका समाधान पाठकों के उपर ही छोड़ दिया है। अतएव एक पाठकके रूपमें मैं इन प्रश्नोंके समाधानमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। आपने लिखा है—

"एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि प्रकाशानन्द प्रबोधानन्द नहीं थे, तो महाप्रभुके प्रति शरणागत होने पश्चात् प्रकाशानन्दका क्या हुआ? तब उसके पश्चात् उनका कहीं भी किसी प्रकारका चिह्न नहीं मिलता। क्या यह सम्भव है कि उनके जैसा प्रभाकरके समान तेजस्वी महापुरुष भारतके आध्यात्मिक आकाशसे सहसा लुप्त हो जाय? क्या यह स्वाभाविक नहीं कि उनके जैसा महापण्डित सार्वभौम भट्टाचार्यकी तरह महाप्रभुकी स्तुतिके रूपमें कुछ लिखकर अपनी लेखनी सार्थक करे? चैतन्यचन्द्रामृत महाप्रभुकी स्तुतिका वह ग्रन्थ है, जो निर्णायक रूपसे सिद्ध करता है कि प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्द एक ही व्यक्ति थे।"

डा. कपूरने ठीक ही लिखा है। किन्तु इन्हें एक ही जीवकी चिन्ता सता रही है कि उसका क्या हुआ? किन्तु मुझे तो हजारों मायावादी संन्यासियोंके

साथ अन्यान्य काशीवासियोंकी भी चिन्ता सता रही है। एक समाधान है—श्रीकविराज गोस्वामीने लिखा है कि काशी ऐसी नगरी हो गई मानो नदीया नगरी हो, तो फिर काशीसे वृन्दावन आनेका सवाल ही नहीं होता है। आप केवल प्रकाशानन्दके आनेकी बात पूछ रहे हैं, इस उत्तरको मनमें गुप्त रखते हुए कि लोग यह कहनेको बाध्य हो जायेंगे कि प्रकाशानन्द तो वृन्दावन गया ही। परन्तु मैं पूछता हूँ उनके हजारों शिष्योंका क्या हुआ? जब गुरु ही वृन्दावनमें आ गये, तो शिष्यगण काशीमें ही डफली क्यों बजावें? यदि कहो कि शिष्यणगण अपने गुरुको वैष्णव बनते हुए देखकर विरोधी हो गये, इसीलिए शिष्योंने गुरुका अनुगमन नहीं किया, तो इस बातको स्वीकार नहीं किया जायेगा। क्योंकि श्रीचैतन्यचरितामृतमें स्पष्ट वर्णन है कि सभी शिष्योंके साथ ही प्रकाशानन्दने महाप्रभुकी शरण ली। बल्कि कुछ शिष्योंने तो प्रकाशानन्दसे पहले ही मन-ही-मन अपनेको महाप्रभुका मान लिया था। अच्छा हजारों शिष्योंकी बात छोड़कर केवल एक शिष्यकी बात करें—

प्रकाशानन्देर शिष्य एक तहाँर समान। सभामध्ये कहे प्रभुर करिया सम्मान।।

जब प्रकाशानन्द वृन्दावन आये तो अपने उस शिष्यको तो कम-से-कम साथ लाते अथवा स्वयं साथ न लाते, ठीक है! अन्ततः उस शिष्यको तो साथ आना चाहिए शिष्यताके नाते, जबकि उपर्युक्त पयारसे और श्रीचैतन्यचरितामृतका पूरा प्रसंग पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि यह शिष्य प्रकाशानन्दके ही समान था और महाप्रभुके शरणागत हुआ। मेरा प्रश्न है कि इस शिष्यके समान तेजस्वी महापुरुष भी कहाँ खो गया, जो अपने गुरुके समान स्वयं श्रीमहाप्रभुकी प्रशंसा कर रहा है, वह भी तब जब कि प्रकाशानन्दने स्वयंको पूर्ण समर्पित नहीं किया है। काशी विद्वानोंकी नगरी रही है। हो सकता है प्रकाशानन्द और बाकी विद्वानोंमें उन्नीस-बीसका अन्तर हो, परन्तु क्या जब प्रकाशानन्द इतने ग्रन्थोंकी रचना कर सकता है, तो बाकी संन्यासियोंमें से काई-भी एक शब्द भी नहीं लिख सकता है? इसलिए मेरा तो उत्तर है कि प्रकाशानन्दकी वही गति हुई, जो बाकी संन्यासियोंकी गति हुई।

स्वयं लेखकने ही यह लिखा है कि प्रकाशानन्द महाप्रभुकी अपेक्षा वृद्ध थे। वे यह भी कहते हैं कि उनके जैसा महापण्डित क्या सार्वभौमकी तरह महाप्रभुकी कुछ स्तुति नहीं कर सकते हैं? लेखकका विचार अपनी

जगह दुरुस्त है, परन्तु यह काई प्रमाण थोड़े ही है प्रकाशानन्द और प्रबोधानन्दको एक कहनेके लिए। मेरा प्रश्न है यदि वे ऐसे महापण्डित थे और वृद्ध भी थे [अन्ततः अधेड़ तो होंगे ही], तत्कालीन मायावादी संन्यासियोंमें सर्वश्रेष्ठ भी थे, तो तब तक उनकी लेखिनी क्या घास काट रही थी? यदि उन्हें लिखनेका कुछ भी शौक होता, तो वे इतने दिनों तक हाथ-पर-हाथ रखकर काशीमें बैठे हुए थे? उनके नामकी काई मायावादी रचना तो प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ हम मधुसूदन सरस्वतीको लें। परवर्ती कालमें वे वैष्णव भक्त हो गये [ऐसी मान्यता है] और उनकी भक्ति-परक रचनाएँ भी प्राप्त हैं। किन्तु भक्त बननेसे पूर्व वे अपनी लेखनी द्वारा किस प्रकार वैष्णव सिद्धान्तको प्रताड़ित कर रहे थे, यह बात किसीसे छुपी नहीं है। अतः परवर्ती कालमें जिन्होंने इतनी रचनाएँ कीं, उनका एक भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ अवश्य प्राप्त होना चाहिए। माना कि महाप्रभुकी कृपासे सब कुछ संभव है, परन्तु लेखक महोदयने अपने प्रश्नमें यह विचार न रखकर यही विचार रखा है कि इतने बड़े महापण्डित होनेके नाते तो उन्हें महाप्रभुके विषयमें कुछ-न-कुछ अवश्य ही लिखना चाहिए था और चैतन्यचन्द्रामृत इसका प्रमाण है।

चैतन्यचन्द्रामृतको अब वे किस प्रकार प्रकाशानन्दकी रचना बताएँगे जबकि जीव गोस्वामी द्वारा रचित 'प्रबोधानन्दसरस्वतीं वन्दे' श्लोकसे यह स्पष्ट है कि गोपालभट्टके गुरु प्रबोधानन्दने ही इसकी रचना की और यहाँ यह पहले ही सिद्ध कर दिया गया है कि प्रकाशानन्द नाम वाले प्रबोधानन्द(?) किसी प्रकार गोपालभट्टके गुरु सिद्ध नहीं हो सकते।

डा. कपूरने भी यह लिखा है कि प्रकाशानन्द [उर्फ प्रबोधानन्द] रूप-सनातनसे पहले वृन्दावन आये थे। इस विचारकी समीक्षा हमने पहले ही कर दी है।

(३) **श्रीहरिदासशास्त्री**

आपने श्रुतिस्तुतिव्याख्या नामक ग्रन्थकी विज्ञप्तिमें श्रीप्रबोधानन्दके चरित्र पर प्रकाश डाला है। आपने भी श्रीचैतन्यचन्द्रामृत, राधारससुधानिधि, वृन्दावनमहिमामृतके आधार पर आधार पर यह कहा है कि श्रीप्रबोधानन्द मायावादी संन्यासी थे। फिर आपने चैतन्यचरितामृत और चैतन्यभागवतमें उल्लिखित 'प्रकाशानन्द'का वर्णन किया है। फिर कृष्णदास (लालदास) कृत भक्तमालके आधार पर यह माना है कि प्रबोधानन्द प्रकाशानन्दका ही नाम

है, जो उसे महाप्रभुने दिया था। पुनः श्रीगौरगणोद्देश दीपिकासे तुङ्गविद्या सखीका परिचय प्रदान किया है। पुनः यह वर्णन किया है कि मुरारिगुप्तके कड़चामें महाप्रभुके चातुर्मास कालके वर्णन-प्रसंगमें प्रबोधानन्दका नाम नहीं आया है। पुनः अद्वैतप्रकाशसे दिखाया है कि महाप्रभु काशीमें प्रबोधानन्द नामक संन्यासीसे ही मिले थे।

इस प्रकार आप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रबोधानन्द नामक दो व्यक्ति हुए हैं। एक तो गोपालभट्टके पितृव्य और दूसरे मायावादी प्रकाशानन्द। इस प्रकाशानन्दका जो नामान्तर हुआ प्रबोधानन्द, उसीने चैतन्यचन्द्रामृत, राधारससुधानिधि आदि ग्रन्थोंकी रचना की। इस निष्कर्ष पर पहुँचनेका आपका मुख्य आधार रहा है, जितने भी ग्रन्थ हैं, उनका सामञ्जस्य करना, नहीं तो केवल एक ही प्रबोधानन्द माननेसे एक ऐसी समस्या खड़ी हो जायेगी जिसका समाधान असम्भव है। किन्तु इससे नरहरिदासकृत भक्तिरत्नाकरके उस विचारका समाधान नहीं हो पाया जिसमें उन्होंने गोपालभट्टके पितृव्यको ही अनेक ऐसे काव्योंका प्रणेता बताया है, जिसे सुनकर सबको सुख प्राप्त होता है। (द्रष्टव्य भ. र. १/१५२-५३) मेरे विचारसे आपकी यह समन्वयवादकी नीति अत्यन्त हास्यास्पद है और इसीलिए एक ऐसे निष्कर्ष पर आप पहुँचे है, जो अश्रुतपूर्व है।

हाँ पाठको! गौड़ीय सम्प्रदायके अन्तर्गत इतने अपसम्प्रदाय हो चुके हैं कि उनका नामोल्लेख दो-चार पंक्तियोंमें नहीं हो सकता। इस अपसम्प्रदायी सहजिया लोगोंने अनेक सहजिया ग्रन्थोंकी रचना कर सम्प्रदायमें संकीर्णता और विकृति पैदा की है। यदि हम इन सभी ग्रन्थोंको प्रामाणिक मान लें, बिना यह विचार किये कि ग्रन्थमें वर्णित तथ्य, विचार-सिद्धान्त महाप्रभुके अनुगत प्रमुख वैष्णवोंके अनुरूप है या नहीं, तो ऐसे ही किसी निष्कर्षपर पहुँचेंगे जहाँ ये महोदय पहुँचे हैं। कौन-सा ग्रन्थ कितना प्रामाणिक है, इसका विचार हमने पहले ही किया है।

अब जरा स्वयं प्रबोधानन्द द्वारा रचित श्लोकों पर विचार कर लिया जाय और देखा जाय कि वे पहले मायावादी थे या नहीं?

श्रीचैतन्यचन्द्रामृत—

श्लोक संख्या ४७

कैर्वा सर्वपुमर्थमौलिरकृतायासैरिहासादितो
नासीद् गौरपदारविन्दरजसा स्पृष्टे महीमण्डले।

हा हा धिङ् मम जीवनं धिगपि मे विद्यां धिगप्याश्रमं
यद्दौर्भाग्यभरादहो मम न तत्सम्बन्धगन्धोप्यभूत्।।

अर्थात् श्रीगौरचरणारविन्दकी रजका स्पर्श इस भूमण्डल पर होनेसे किसने अनायास ही सर्वपुरुषार्थशिरोमणि प्रेम प्राप्त नहीं किया [अर्थात सबने प्राप्त किया], किन्तु हाय! हाय! अत्यन्त दुर्भाग्यवश मैं उस प्रेमका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं कर सका। धिक्कार है मेरे जीवनको, धिक्कार है मेरे पाण्डित्यको, धिक्कार है मेरे आश्रमको।

जिन लेखकोंको इस श्लोकमें मायावादी संन्यासी होनेकी गन्ध मिलती है, वे अन्धे हैं। स्वयं प्रबोधानन्दने अपनेको मायावादी संन्यासी तो यहाँ बताया नहीं! जब लोग इस श्लोकको यह प्रमाणित करनेके लिए उद्धृत करते हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि प्रबोधानन्दके विषयमें अभी विचार खुले हैं। मेरा प्रश्न है 'आश्रम' शब्द देखकर एकदण्ड संन्यासाश्रमका ही विचार इन लोगोंके मनमें कैसे घुसा? क्यों नहीं इनलोगोंके मनमें त्रिदण्ड संन्यासाश्रमका विचार आया? यदि कहो 'विद्या' शब्दको देखकर तो मेरा प्रश्न है क्या गोपालभट्टके गुरुदेव त्रिदण्डी यति प्रबोधानन्द मूर्ख थे? अतएव यह श्लोक किसी भी प्रकार यह प्रमाणित नहीं करता है कि प्रबोधानन्द मायावादी संन्यासी थे। क्योंकि पहलेसे ही मायावदरूप चश्मा इन लोगोंकी आँखों पर लगा है, इसीलिए इन्हें ऐसा दिखाई पड़ रहा है।

श्लोक संख्या १९

तवाद्ब्रह्मकथा विमुक्तिपदवी तावन्न तिक्तीभवे-
तावच्चापि विशृङ्खलत्वमयते नो लोकवेदस्थितिः।
तावच्छास्त्रविदां मिथ कलकलो नाना वहिर्वर्त्मसु
श्रीचैतन्यपदाम्बुजप्रियजनो यावन्न दृग्गोचरः।।

अर्थात् जिस समय तक श्रीचैतन्यमहाप्रभुके चरणकमलका पान करनेवाले भृंग सदृश उनके अन्तरंग भक्तगण दर्शन अर्थात नेत्रोंके विषय नहीं होते, उसी समय तक निर्विशेष ब्रह्मकी कथा और निर्विशेष मुक्तिरूप पदवी तिक्त या कड़वी बोध नहीं होती, उसी समय तक लोकमर्यादा और वेदमर्यादा विशृंखलताको प्राप्त नहीं होती अर्थात् जगत् और वेदमें परिनिष्ठित मति दूर नहीं होती, तभी तक विविध बहिर्मुख मार्गमें विचरणशील शास्त्रविद् अर्थात पण्डिताभिमानी व्यक्तिगणका अपने-अपने मतको लेकर विवाद अवश्यम्भावी है।

पहली बात तो यह कि यह श्लोक महाप्रभुके भक्तोंके लिए लिखा गया है। यदि यह महाप्रभुके लिए लिखा गया होता, तब तो उल्टा हाथ घुमाकर नाक छूनेकी तरह इन लोगोंको यह कहनेका अवसर मिलता कि प्रबोधानन्द मायावादी संन्यासी रह चुके थे। चूँकि महाप्रभुके भक्तोंके दर्शनसे प्रकाशानन्दका हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ, अतः इस श्लोकके अधार पर यह कहना उचित नहीं कि प्रबोधानन्द पहले मायावादी संन्यासी थे। यदि विचारके यह मान भी लिया जाय तो 'लोकवेदस्थितिः' में जो 'लोकस्थिति' अर्थात जगत्के प्रति जो परिनिष्ठित मति है, यह विचार प्रकाशानन्दपर कैसे लागू होगा? क्योंकि वे तो महान वैरागी थे। जगत्को नेति-नेति कहकर ही उन्होंने संन्यास जो ग्रहण किया था। अतएव इस श्लोकके आधारपर प्रबोधानन्दको मायावादी प्रकाशानन्दके साथ एक करना अत्यन्त घृणित व्यापार होगा।

श्लोक ३२

क्रियासक्तान् धिग् धिग् विकटतपसो धिक् च यमिनः
धिगस्तु-ब्रह्माहं वदनपरिफुल्लान् जड़मतीन्।
किमेतान् शोचामो विषयरसमत्तान्नरपशू-
न्न केषाञ्चिल्लेशोऽप्यहह मिलितो गौरमधुः।।

अर्थात् नित्य-नैमित्तिक क्रियासक्त [कर्मजड़ स्मार्त] लोगोंको धिक्कार है, उत्कट तपस्वियोंको धिक्कार है, अष्टांग योगियोंको धिक्कार है, 'अहं ब्रह्मस्मि' शब्दोच्चारणमात्रसे अपनेको मुक्त मानकर छाती फुलाने वाले [अहंग्रहोपासकों] को भी धिक्कार है। ये सभी भगवत्सम्बन्धरहित विषयभोगमें मत्त हैं। इनमेंसे किसीको गौरपादपद्म मकरन्दका लेशमात्र भी प्राप्त नहीं हुआ।

पाठको! इस श्लोकके आधार पर यदि प्रबोधानन्दको मायावादी बताया जाय, तो एक बार उन्हें कर्मी, एक बार तपस्वी और एक बार अष्टांग योगी भी स्वीकार करना चाहिए। पता नहीं हमारे अर्वाचीन लेखकगण उन्हें किन-किन विभूषणोंसे विभूषित करेंगे। एक बात और गौर करने लायक है, वह यह कि इनमें से किसीको गौरपादपद्म मकरन्द प्राप्त नहीं हुआ। यदि प्रबोधान्नद ही प्रकाशानन्द होते तो यह विचार वे स्वंय कैसे लिखते? क्योंकि उनका उदाहरण तो इसके विपरीत विचारमें आना चाहिए कि उनके जैसे मायावादियोंने भी छककर गौरपादपद्म मकरन्दका आस्वादन किया। हाँ

पाठको! उद्धार करना एक अलग बात है और कृष्णप्रेम प्रदान करना एक अलग बात। यदि प्रकाशानन्द ही प्रबोधानन्द होते तो यह विचार वे कदापि नहीं लिख सकते कि किसीको भी गौरपादपद्मके मकरन्दका सौभाग्य नहीं मिला। अतः श्रीप्रबोधानन्द स्वयं यह बता रहे हैं कि वे और प्रकाशानन्द एक नहीं हैं।

श्लोक ४२

साक्षान्मोक्षादिकार्थान् विविधविकृतिभिस्तुच्छतां दर्शयन्तं
प्रेमानन्दं प्रसूते सकलतनुभृतां यस्य लीला-कटाक्षः।
नासौ वेदेषु गूढो जगति यदि भवेदीश्वरो गौरचन्द्रस्तत्-
प्राप्तोऽनीशवादः शिवशिव गहने विष्णुमाये नमस्ते।।

अर्थात् जिन गौरसुन्दरका भावविलासयुक्त कटाक्ष देहधारी समस्त जीवोंको अनेक प्रकारकी विकृतियों द्वारा साक्षात् मोक्ष आदि चारों पुरुषार्थोंकी तुच्छता प्रदर्शित कर पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्द प्रकट करता है, वे वेदगुह्य गौरचन्द्र यदि जगतके ईश्वर न हों अर्थात् जगतके जीव यदि उन्हें 'स्वयं ईश्वर' के रूपमें स्वीकार न करें, तो यह जगत नास्तिक्यवादसे ही आच्छन्न रहा। शिव! शिव! हे विष्णुमाये! तुम्हारा प्रभाव दुर्ज्ञेय है, तुम्हें नमस्कार है।

इस श्लोकमें 'साक्षात् मोक्षको भी तुच्छ प्रदर्शित करता है'— इस विचारके आधारपर लेखकोंने प्रबोधानन्दको मायावादी मान लिया है। मालूम पड़ता है इन लोगोंको संस्कृतका बिल्कुल ज्ञान ही नहीं है। मूल श्लोकमें लिखा है—'साक्षान्मोक्षादिकार्थान्'। यहाँ 'आदि' पदसे धर्म, अर्थ और कामको भी ग्रहण करना पड़ेगा। अतएव प्रबोधानन्दको एक बार धर्मार्थी, एक बार अर्थार्थी और एक बार कामार्थी भी होना चाहिए। हमारे इन अर्वाचीन लेखकोंको केवल 'मोक्षार्थी' ही क्यों नजर आये श्रीप्रबोधानन्द?

श्लोक ५२

हा हन्त हन्त परमोषरचित्तभूमौ
व्यर्थी भवन्ति मम साधनकोटयोऽपि।
सर्वात्मना तदहमद्भुतभक्तिबीजं
श्रीगौरचन्द्रचरणं शरणं करोमि।।

अर्थात् हाय! हाय! मेरे चित्तरूप अत्यन्त कठोर ऊषर भूमिमें कोटि-कोटि साधन बीज व्यर्थ हो रहे हैं। अतएव अब मैं सर्वान्तःकरण द्वारा अद्भुत (अप्राकृत) भक्तिबीजस्वरूप श्रीगौरचन्द्रके चरणकमलकी शरण ग्रहण करता

हूँ।

पता नहीं इस श्लोकके आधार पर भी किस प्रकार इन लेखकोंने प्रबोधानन्दको मायावादी समझनेकी भूल की। मेरी दृष्टिमें तो एक ही शब्द इसका कारण नजर आता है—परमोषरचित्तभूमौ। पाठकगण! लेखक यहाँ दीनतावश अपनी निन्दा कर रहे हैं और श्रीमन्महाप्रभुकी महिमाका गान कर रहे हैं। अपनी दीनताका वर्णन करते हुए लेखकगण न जाने क्या-क्या कह जाते हैं। हमारे गौड़ीय-साहित्यमें ऐसे सैकड़ों उदाहरण प्राप्त हो जाएँगे, जब कोई भक्त अपनेको इस प्रकार कोस रहा हो। कभी भक्तगण अपनेको पापी कहते हैं, तो कभी नीच, कभी कर्मी, तो कभी ज्ञानी, कभी शुष्क चित्तवाला आदि आदि। इसी प्रसंगमें प्रबोधानन्दपादने भी अपने बारेमें ऐसा कहा है। बलिहारी जाऊँ इन अर्वाचीन लेखकों पर जिन्होंने ऐसा मान भी लिया कि सचमुच ही श्रीप्रबोधानन्दकी चित्तभूमि बंजर थी। एक बार भी विचार किया होता कि वैसे बंजर चित्तभूमिपर किस प्रकार श्रीचैतन्यचन्द्रामृत जैसा काव्य प्रकट हुआ? यदि कहो कि यह उनके पूर्व जीवनके लिए घटित होता है, तो यह मान्य नहीं है क्योंकि श्लोकमें करोमि-वर्तमानकालिक क्रियापदका प्रयोग हुआ है।

पाठको! आप लोगोंकी जानकारीके लिए ठीक इससे पहलेवाला श्लोक उद्धृत कर रहा हूँ, जिससे आपलोग यह जान पायेंगे कि वस्तुतः श्रीपादप्रबोधानन्द अपनी दीनता ही प्रदर्शित कर रहे हैं—

दुष्कर्मकोटिनिरतस्य दुरन्तघोर-
दुर्वासना-निगडश्रृंखलितस्य गाढ़म्।
क्लिश्यन्मतेः कुमतिकोटिकदर्थितस्य
गौरं विनाद्य मम को भवितेह बन्धु॥५१॥

अर्थात मैं कोटि-कोटि दुष्कर्मोंमें निरत हूँ, दुर्दमनीय घोर दुर्वासनारूपी श्रृंखलासे दृढ़तापूर्वक जकड़ा हुआ हूँ, कर्मज्ञानादि प्रयासजनित क्लेशसे मेरा चित्त कातर हो रहा है एवं कोटि-कोटि कुबुद्धिमान् पुरुषों द्वारा विपरीत पथकी ओर परिचालित होकर अभिभूत हो रहा हूँ, अतएव गौरहरिके अलावा आज इस संसारमें कौन मेरा बन्धु है?

पाठको! अब आप पहले श्रीप्रबोधानन्दको एक बार दुष्कर्मी भी मान लें, दुर्वासनायुक्त मान लें, कुमति मान लें, तब जाकर ऊषर चित्तवाला मानें। लेकिन तब भी मायावादी कैसे मान लेंगे?

श्लोक ९९

काशीवासीनपि न गणये किं गयां मार्गयामो
मुक्तिः शुक्ती भवती यदि मे कः परार्थप्रसंगः।
त्रासाभासः स्फुरति न महारौरवेऽपि क्व भीतिः
स्त्रीपुत्रादौ यदि कृपयते देवदेवः स गौरः।।

अर्थात् ब्रह्मादि देवताओंके भी प्रभु श्रीगौरसुन्दर यदि कृपा करें तो काशीवासियोंकी गिनती नहीं करूँ, फिर गयाका अन्वेषण ही किसलिए करूँ? जब मुक्ति ही मेरे निकट शुक्तिके समान प्रतिभात होती हो तो धर्म–अर्थ–काम—इस त्रिवर्गकी बात ही कहाँ? और महारौरव नरकमें भी यदि लेशमात्र भय उपस्थित न हो तो स्त्री–पुत्रादिके विषयमें भय कहाँ?

पाठको! इस श्लोकमें भी 'काशीवासियोंकी ही गनती जब न करूँ यदि चैतन्यमहाप्रभुकी कृपा हो जाय तो' का अर्थ इन लेखकोंने यह लिया है कि पहले प्रबोधानन्द काशीमें रहते थे। मेरा पुनः प्रश्न है कि यदि प्रबोधानन्द काशीमें रहते थे, तब तो मालूम होता है उससे पहले वे गयामें भी रहते थे। अतएव जब उन्हें मायावादी कहते हैं तो बार कर्मकाण्डी धर्मध्वजी भी कहना चाहिए। क्या ये लेखकगण इसे स्वीकार करेंगे?

पाठको! यहाँ प्रबोधानन्दपादने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा है। वे तो पञ्चमपुरुषार्थके पथस्वरूप भक्तिके अतिरिक्त अन्य जो भी पथ हैं, उनकी तुच्छता दिखा रहे हैं, यह कहकर कि यदि श्रीगौरांग महाप्रभुकी कृपा हो जाय तो भक्तिके अतिरिक्त अन्य साधन तुच्छ हैं, उन साधनोंका फल भी तुच्छ है और उन साधनोंके आश्रयस्थलके रूपमें जो स्थान हैं वे भी अतितुच्छ हैं, इसकी उपलब्धि हो जाती है। इसीलिए यहाँ ज्ञान और कर्मरूप साधनकी आश्रयस्थलियोंका तिरस्कार किया गया है। यह सर्वविदित तथ्य है कि कर्मकी अपेक्षा ज्ञानकी श्रेष्ठता है, इसीलिए जब ज्ञानके ही आश्रयस्थलमें रहनेवालोंकी ही गिनती नहीं है, तो कर्माश्रयस्थल गयाका अनुसन्धान ही कौन करे, इत्यादि तुलनाएँ की गई हैं। श्लोकमें केवल इतना ही नहीं महाप्रभुकी कृपासे और क्या-क्या संभव है इसकी भी चर्चा की गई है, तो श्रीप्रबोधानन्दको केवल कशीवासी ही क्यों समझा जाये? पाठकोंका ध्यान मैं एक दूसरी ओर भी आकर्षित करना चाहूँगा। कुछ लोग इस ९९संख्यक श्लोकको श्रीचैतन्यचन्द्रामृतके अष्टम विभाग लोकशिक्षाके अन्तर्गत रखते हैं। इस विभागमें अन्यत्र किस-किस श्लोकमें किस-किस पद्धतिकी निन्दा

की गई है, उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

८४—'ज्ञानादिवर्त्म' इससे ज्ञानसहित भक्तिके अतिरिक्ति सभी पथोंकी निन्दाकी गई है।

८५—'कर्मसु वृथावेशं अपनयत' अर्थात् कर्ममें वृथा अभिनिवेशका परित्याग करो—कर्ममार्गकी निन्दा

'अध्यात्मसरणेः मनाग् वार्तामपि क्वचन कर्णाभ्यर्णेऽपि न नयत' अर्थात् अध्यात्मवादरूप पथकी थोड़ी भी वार्ता कभी अपने कानोंके समीप भी मत लाओ—ज्ञानमार्गकी निन्दा, इत्यादि।

८६—स्त्रीसम्भाषणकी निन्दा, स्वर्गाभिलाषाकी निन्दा, शास्त्राभ्यासकी निन्दा इत्यादि।

८७—कष्टसाध्य योगादिमार्गोंकी निन्दा, यहाँ भी 'आदि' पदसे योगसहित ज्ञान आदि मार्गोंको भी ग्रहण करना चाहिए।

९०—'सकलमेव विहाय'-गौरचरणाश्रयके अतिरिक्त सभी मार्गोंकी निन्दा।

इसके अतिरिक्त श्लोक ९९ 'काशीवासीन्' से पूर्व श्लोक ९८ में एक ही साथ सभी मार्गोंकी निन्दा की गई है—

ध्यायन्तो गिरिकन्दरेषु बहवो ब्रह्मानुभूयासते
योगाभ्यासपराश्च सन्ति बहवः सिद्धा महीमण्डले।
विद्याशौर्य धनादिभिश्च बहवो जल्पन्ति मिथ्योद्धताः
को वा गौर कृपां विनाद्य जगति प्रेमोन्मदो नृत्यति।।

इसी श्लोकके बाद 'काशीवासीन्' श्लोक (९९) लिखा गया है। और वहाँ भी लेखक यह आकांक्षा ही कर रहें है 'यदि श्रीगौरकृपा हो जाय तों, अतएव यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि 'काशीवासीन्' का अर्थ यह है कि लेखक काशीमें रहते थे? यहाँ तो केवल यही वर्णन किया जा रहा है कि श्रीमन्महाप्रभुकी कृपासे सब कुछ सम्भव है।

पाठको! इतना ही नहीं श्रीचैतन्यचन्द्रामृतमें भक्तिके अतिरिक्त अन्य पथोंकी तुच्छताका प्रचुररूपमें वर्णन हुआ है। किन्तु इन विचारकोंने बाकी सभी प्रसंगोंको छोड़ केवल ज्ञानप्रसंग या मुक्तिप्रसंगको लेकर यह बतानेकी कुचेष्टा की है कि श्रीप्रबोधानन्द काशीवासी मायावादी संन्यासी थे।

श्रीराधारससुधानिधि

श्रीराधारससुधानिधि ग्रन्थके अन्तिम श्लोकके आधार पर ये लोग 'श्रीप्रबोधानन्द मायावादी संन्यासी थे'—इस विचारपर अन्तिम मुहर ठोंकते

हैं। श्लोक इस प्रकार है—

स जयति गौरपयोधिर्मायावादतापसन्तप्तम्।
हृन्नभ उदशीतलयद् यो राधारससुधानिधिना।।

चूँकि यह श्लोक ग्रन्थका अन्तिम श्लोक है अतः दोनों व्यक्तिको एक दिखानेवाले लोग इसे ग्रन्थकारका परिचय देनेवाला श्लोक मानकर इस प्रकारका अर्थ करते हैं—

उस गौरपयोधिकी जय हो जिसने 'राधारससुधानिधि' द्वारा मायावाादरूप अर्क (सूर्य) के तापसे सन्तप्त हृदयाकाशको शीतल किया।

क्योंकि ग्रन्थका नाम 'राधारससुधानिधि' है अतएव इन लोगोंका कहना है कि प्रबोधानन्दपादका ही हृदय मायावादरूप अर्कके तापसे तप्त हो रहा था और महाप्रभुने 'राधारससुधानिधि' द्वारा उनके हृदयाकाशको शीतल किया।

यह अर्थ अपने स्थानपर ठीक है, परन्तु इसमें संकीर्णता है। क्योंकि यह श्लोक श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी महिमाके लिए लिखा गया है, अतएव श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी आंशिक महिमाका गान होना उचित नहीं जान पड़ता। यह सर्वमान्य तथ्य है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुके समय तत्कालीन भारतवर्षमें मायावादका बोलबाला था। उसस मायावादरूप अर्कसे सभी भक्तोंको कष्ट होता था। किन्तु महाप्रभुने आकर उस मायावादरूप सूर्यका अस्त कराया और जगतमें राधाजीकी महिमाका प्रचार किया तथा इस राधारसरूप सुधानिधि अर्थात् चन्द्रके उदित होनेसे सभी भक्तोंका हृदय शीतल हुआ। यदि श्रीप्रबोधानन्द श्लोकमें 'मेरे ही हृदयको शीतल किया' ऐसा संकेत दे देते तो कोई समस्या ही नहीं थी। अतएव ग्रन्थकारको अपना परिचय देना अभीष्ट न होकर महाप्रभुकी महिमाका गान करना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि यदि ग्रन्थकारको अपना परिचय देना अभीष्ट होता, तो उनके इतने सारे ग्रन्थ हैं, उनमें भी अन्तमें इस प्रकारका प्रयास देखा जाना चाहिए था। अतएव इसका यही अर्थ उचित जान पड़ता है—

उस गौरपयोधिकी जय हो जिसने राधारसरूप सुधानिधि द्वारा मायावादरूप अर्कके तापसे सन्तप्त सभी भक्तोंके हृदयाकाशको शीतल किया।

इस श्लोक द्वारा ही दोनोंकी एकताको सिद्ध करनेका प्रयास तभी संगत होता, जब अन्य प्रमाण भी इसकी पुष्टि करते। किन्तु पहले अन्य सभी प्रमाणोंका पुंखानुपुंख विवेचन हुआ है और यही सिद्ध हुआ है कि दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। विशेषतः यह जानते हुए कि राधारससुधानिधिकी

रचना श्रीगोपालभट्टके गुरुदेवने ही की है और प्रकाशानन्दको ही यदि प्रबोधानन्द मानें तो वे सब प्रकारसे गोपालभट्टके गुरुके रूपमें असिद्ध होते हैं।

पाठकोंसे एक अनुरोध है कि वे कुछ क्षणोंके लिए ऊपर लिखी गई सारी बातें भूल जायँ, तो अच्छा है। क्योंकि उपरोक्त प्रमाण और युक्तियाँ बाह्य हैं। किन्तु अब जरा कुछ अभ्यन्तर तथ्योंपर विचार कर लें।

महाप्रभुकी लीलामें जितने भी लोगोंने (प्रकाशानन्दको छोड़कर) महाप्रभु या उनके भक्तोंका विरोध किया उनमेंसे जगाई-माधाईके अलावा कोई भी विष्णुजन या विष्णुभक्त (पूर्व जीवनमें) नहीं था। रही बात जगाई-माधाईकी तो इनके बारेमें सभी जानते हैं कि श्रीविष्णुकी प्रेरणासे ही चतुःसनने इन्हें शाप दिया था और पूर्ववर्ती तीन जन्मोंमें इन्होंने विष्णुविरोधीका अभिनय किया था। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी इस लीलामें भी ऐसे किसी पात्रकी आवश्यकता थी, अतएव जय-विजयने ही अपने पूर्व तीन जन्मकी लीलाके परिशिष्टरूपमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी लीलामें भी विष्णुविरोधीका अभिनय कर सेवक और सेवाका आदर्श स्थापित किया। यह तो हुई विष्णुजन अर्थात् वैष्णवोंकी बात, जो कि श्रीहरिके विभिन्नांश तत्त्व हैं। किन्तु सृष्टिके आरम्भसे अभी तककी लीलामें हमने तो यह कभी नहीं सुना कि कोई पराशक्ति विष्णु तत्त्वका विरोधी हुआ है।

प्रबोधानन्द सरस्वतीका परिचय देते हुए श्रीकविकर्णपूरने लिखा है कि व्रजमें जो सर्वशास्त्रविशारदा तुंगविद्या हैं, वे ही अभी प्रबोधानन्द हुए हैं। ये तुंगविद्या सखी कौन हैं? ये हैं श्रीराधाजीकी कायव्यूहा अष्टसखियोंमें अन्यतम अर्थात् ये श्रीराधाजीकी दूसरी कलेवरके समान ही हुईं। एक-एक भावसे कृष्णकी सेवा करनेके लिए श्रीराधाजी जब अष्ट भावोंके अनुरूप आठ रूपमें स्वयंको प्रकाशित करती हैं, तो वह प्रकाश ही उनका कायव्यूह या अष्टसखीके रूपमें जाना जाता है। कहनेका अर्थ यह हुआ कि कृष्णकी सेवाके लिए जो मूर्ति प्रकाशित हुई, वही अभी [इस लीलामें] कृष्णका विरोधकर सेवाका (?) का अनूठा आदर्श प्रस्तुत कर रही है। मैं कुछ देरके लिए यह भी मान लेता हूँ! परन्तु इस प्रकारकी लीलाका कोई हेतु भी तो होना चाहिए, जिस प्रकार जय-विजयकी आसुरी लीलाका हेतु हुआ—चतुःसनका श्राप। क्या ये अर्वाचीन गौड़ीय सिद्धान्तविद्गण इस प्रश्नका उत्तर देंगे? 'तुंगविद्या सखी यहाँ कृष्ण-विरोधीकी भूमिका निभा रही हैं'—इसका अर्थ यह हुआ कि श्रीमती राधिका ही ऐसा कर रही हैं। ऐसा कहनेका

कारण पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है। अतः पाठको! और किसीके श्रापसे तुंगविद्याको कृष्णविरोधी मायावादी संन्यासी बनकर आना पड़ा, यह तो किसी शास्त्रमें देखा नहीं जाता, परन्तु इन तथाकथित गौड़ीय वैष्णवोंके श्रापने अवश्य ही उस तुंगविद्याको कृष्णविरोधी मायावादी संन्यासी बनाया, जो कृष्णसेवाकी शिक्षा प्रदान करने वाली हैं।

लालदासने लिखा है—

श्रीमान् प्रबोधानन्द नित्य सिद्ध हन। लीला लागि एइ एक प्रभुर गठन।।

अतः श्रील प्रभुपादने लालदास द्वारा रचित भक्तमाल ग्रन्थको जो सहजिया विशेषण दिया है, वह अक्षरशः सत्य है, क्योंकि प्राकृत धर्मको अप्राकृत माननेवालेको ही प्राकृत सहजिया कहते हैं। ये लेखकगण यदि अब भी एक बद्धजीवकी प्राकृत लीलाको अप्राकृत मानकर लालदासका आनुगत्यकर प्राकृत सहजियाकी श्रेणीमें अन्तर्भुक्त होकर श्रीप्रबोधानन्दपादके चरणोंमें अपराध करना न छोड़ें तो इनकी इच्छा।

ये लेखकगण तुंगविद्या सखीके हृदयमें निर्विशेषवादरूप मायावादका खंजर घोंपकर उनके पाण्डुरंगकी चुनरीको रक्तरञ्जित कर एकदण्डी मायावादी संन्यासीका रक्तवर्ण चोला पहनानेकी जिद करते रहें तो करें, पर प्रकृत गौड़ीय वैष्णव तो उन्हें उनके हृदयस्थित कृष्णानुरागका प्रतीक अरुण वस्त्रधारी त्रिदण्डी यतिके रूपमें पूजते आएँ हैं, पूज रहे हैं और पूजते रहेंगे।

अलम्